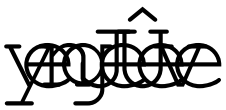

बहु सुमन, बहु रंग, निर्मित एक सुंदर हार

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादक

राजेंद्र कुमार

सह सम्पादक

प्रकाश त्रिपाठी

मृत्युंजय

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय का प्रकाशन

बहुवचन

अंतरराष्ट्रीय हिंदी त्रैमासिक

अंक : 25, अप्रैल-जून 2010

प्रकाशक : महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

सम्पादकीय कार्यालय :
क्षेत्रीय कार्यालय, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
24/28, सरोजिनी नायडू मार्ग, इलाहाबाद-211001
फोनः 0532- 2424442, 2466529, मो. : 09415763049, 09918865005

बिक्री और प्रसार कार्यालय :
प्रकाशन विभाग,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा-442001(महाराष्ट्र) भारत
फोनः 07152-230901, फैक्सः 091-7152-230903
ई-मेलः bahuvachan@gmail.com
तारः हिन्दीविश्व

© सम्बन्धित लेखकों द्वारा सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

पंजीयन सं. : DELHIN/2000/1228
यह अंक : 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये
विदेश में :
हवाई डाक : एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक : एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
Published by Mahatma Gandhi International Hindi University
POST MANAS MANDIR, GANDHI HILLS, WARDHA-442001 (MAHARASHTRA) INDIA

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा** के नाम से इस पते पर भेजें —

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,
पोस्ट मानस मंदिर, गांधी हिल्स, वर्धा-442001(महाराष्ट्र) भारत

मुद्रक : रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोन : 011-22821174,9212796256)

आवरण : अशोक सिद्धार्थ

अनुक्रम

संपादकीय

'अदब की बेअदबी' / 5

कल का आज

सहज प्रकाशन वह मन का / 8
रघुवंशमणि

हिंदी उपन्यास : नारीवाद और नयी स्त्री-चेतना / 29
पुष्पपाल सिंह

उन्मुख

रचनाधर्मिता और अन्तःप्रकृति : फ़ूको-चॉम्स्की संवाद / 44
अनुवाद : सुबोध शुक्ला

सृजनभूमि

सात कविताएँ / 54
संतोष कुमार चतुर्वेदी

पाँच कविताएँ / 62
शैलेंद्र

गोलकीपर (कहानी) / 66
प्रियदर्शन मालवीय

अनवरत

उपनिवेश और हिंदी का स्वरूप / 80
अरुण देव

आदिवासी साहित्य : विविध परिदृश्य / 95
विजयराघव रेड्डी

यह इलाहाबाद है

चौक बाजार : एक विनिमय-छंद / 114
उमाकांत मालवीय

इलाहाबाद की पत्रकारिता / 118
धनंजय चोपड़ा

पढ़ते-गुनते

जेल और जाल के बीच साँसत में फँसी स्त्री / 138
सियाराम शर्मा

कहानी में उछाल और दो नये चेहरे / 150
प्रेम शशांक

समय और समाज से गहरे सरोकार की कहानियाँ / 157
गोरख नाथ

Untitled-1 4 7/23/2010, 1:32 PM

संपादकीय

अदब की बेअदबी

'मर गया देश, अरे जीवित रह गये तुम?- यह किससे पूछ रहे थे मुक्तिबोध, अपनी कविता में? इस प्रश्न को सुनकर हम इधर-उधर देखने लगते हैं, यह दिखाने के लिए- मानो यह प्रश्न जिनसे किया जा रहा है, वो कोई और ही हैं, कहीं अन्यत्र; हम और आप तो नहीं ही। हम और आप तो भाषा एवं साहित्य की सेवा में लगे हैं! हमें और आपको अदब की ख़िदमत से फ़ुर्सत ही कहाँ?साहित्य की ऐसी सेवा, अदब से ऐसी निस्बत का क्या अर्थ होगा, अगर उसके नाम पर हम अपने उस देश और समाज के प्रति अपनी ज़िम्मेदारियों से मुँह चुराते रहे, जिसकी भाषा में हम अपना सृजन-कर्म करते हैं और जिससे पाये गए अनुभवों से अपने रचना-संसार को आबाद होता पाते हैं!

लिखने को क्या-क्या नहीं लिखा जा रहा है! कितनी-कितनी किताबें छप रही हैं, कैसे-कैसे विमर्श चल रहे हैं? इतना सब-कुछ होने पर भी ऐसा क्यों है कि यह सब सिर्फ़ हमारे 'बौद्धिक होने' का पता देता है, 'बेचैन होने' का नहीं? समाज में सामान्य जन अपने जीवन की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा कर पाने के संघर्ष में इंतज़ार कर रहा है कि हमारा भी सक्रिय साथ उसे मिले, और हम हैं कि उसके संघर्ष को अपनी रचना का 'विषय' मात्र बनाकर अपने दायित्व की इतिश्री मान ले रहे हैं। इस तरह हमारी बौद्धिकता उन 'चोर दरवाज़ों' का बंदनवार बन जाती है, जिनकी व्यवस्था संघर्षों से भाग लेने को हमारे लिए बाक़ायदा, किसी-न-किसी रूप में कर रखी गई है। क्या यह अदब की बेअदबी न होगी कि वह खुद को ऐसे भगोड़ों की शरणस्थली बन जाने दे?

आज हमारे साहित्य में कोई आंदोलन नहीं चल रहा है। जो भी आंदोलन चल रहे हैं, साहित्य के बाहर चल रहे हैं। यानी, वहाँ जहाँ किसानों, मज़दूरों, आदिवासियों, बेरोज़गार स्त्री-पुरुषों की ज़िंदगियाँ दाँव पर लगी हैं। लेकिन हमारे रचनाकारों में 'जनांदोलन' नाम की किसी भी सक्रियता से वास्ता रखने का उत्साह नहीं है। अक्सर देखा गया है, किसी लेखक मित्र की कोई रचना कहीं छपती है तो लेखक महोदय स्वयं अपनी रचना के विद्रोही तेवर की पीठ

Untitled-1 5 7/23/2010, 1:32 PM

थपथपाते हैं और जगह-जगह के मित्रों से फ़ोन पर, पूछते हैं कि 'मेरी अमुक रचना अमुक पत्रिका में छपी है, क्या आपने देखी?' काश, कभी ऐसा भी हो कि कोई लेखक ईमानदारी से किसी से यह पूछता मिले कि 'मैंने अमुक जनांदोलन में शिरकत की, क्या आपने भी की?'

वैसे भी हम देखें तो आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास हमें बताता है कि उसमें अधिकांश जगह उन रचनाओं की गौरवगाथा ने घेर रखी है जो साहित्य के भीतर के आंदोलनों की फलश्रुति बनीं, साहित्य के बाहर चल रहे किन्हीं जनांदोलनों की प्रेरणा या परिणति नहीं बनीं। नागार्जुन जैसे जनांदोलनों से सीधे जुड़े रहे कवि को भी साहित्य के इतिहास के बाहर रखने की कितनी कोशिशें कुछ तथाकथित 'सुरुचिपूर्ण' इतिहासकार और आलोचक करते रहे, यह किसी से छिपा नहीं है।

लेखन के क्षेत्र में, ऐसे 'यशःप्रार्थियों' की एक बड़ी खेंप इधर आई है, जिन्हें विभिन्न क्षेत्रों में काम करते-करते एकाएक यह इलहाम होता है कि उनको अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करने का सबसे निरापद मौक़ा तो साहित्य में ही मिल सकता है। साहित्य-प्रेम उनके अंदर हिलोरें लेने लगता है। फिर भला कैसे रुकें वे —'आज लहरों में निमन्त्रण, तीर पर कैसे रुकूँ मैं?' सफलतापूर्ण जीवन जीने की राह में कर्म के तौर पर विद्रोह या संघर्ष जैसा कुछ कर पाना न भी संभव हो, तो क्या! साहित्य तो खुला मैदान है! 'विरोध','प्रतिरोध', या 'विद्रोह' जैसे शब्दों के जितने खूँटे यहाँ गाड़ने हों, गाड़ते रहिए; कोई जोखिम नहीं! उन्हें पता है, व्यवस्था (जिसमें रहकर उन्हें आराम की ज़िंदगी बिताने को मिली है) में कौन कम्बख़्त कविता-कहानी-उपन्यास वग़ैरह से डरता है! जितना जी चाहे, चीत्कार-फूत्कार-हाहाकार करते रहो रचना में! वाहवाही तो सब कुछ रचना में ही होने से मिलेगी न! साहित्य से बाहर तो, अवसर के मुताबिक़, जिस-तिस के सामने दुम ही हिलाते रहना है।

साहित्य से बाहर, सीधे जनता के बीच जो भी आंदोलन चलते हैं, सत्ता फ़िराक में रहती है कि उनका दमन कर दिया जाए— देश की आंतरिक सुरक्षा के नाम पर! जनांदोलनों में दरअसल जन-असंतोषों और जन-आकांक्षाओं, दोनों की अभिव्यक्ति होती है। सत्ताएँ जन-आकांक्षाओं को समझने का ढोंग करती हैं और जन-असंतोषों की अभिव्यक्ति को छूट देने से भय खाती हैं। यह भय ही उन तमाम क्रूरतापूर्ण और जन-विरोधी कार्रवाइयों को राह देता है, जो पुलिस और फ़ौज़ के सिपाहियों की ज़िम्मेदारियों के तौर पर जायज़ ठहराई जाती हैं। ऐसे में, हमारे क़लम के सिपाही कब तक केवल शब्द के मोर्चे पर ही तैनात रहने को यथेष्ट मानते रहेंगे? और कब तक क्रूर सत्ताओं के इस वहम को ज़िंदा रखने में सहयोग करते रहेंगे कि जन-संघर्षों की उम्र में बहुत छोटी होती है?

Untitled-1 6 7/23/2010, 1:32 PM

कल का आज

साहित्य की प्रकृति है कि वह अपने समय की अवज्ञा नहीं कर सकता। लेकिन साहित्य का यह 'अपना समय' क्या सिर्फ़ उतना ही होता है, जिसे हम उसके रचयिता/रचयिताओं के तात्कालिक 'वर्तमान' के रूप में पहचानते हैं? रोज़-ब-रोज़, जो कुछ हमारे सामने घट रहा है, उसमें से कितना क्या हमारे अनुभव का अंश बन सका, इससे हमारे 'वर्तमान-बोध' का निर्धारण होता है। लेकिन इस 'वर्तमान-बोध' की रचनात्मकता साहित्य में तभी कारगर होती है, जब वह अपने उद्वेलन से उस अतीत के प्रति भी हमें एक नई संवेदनशीलता से समुत्सुक कर दे, जिसे हम अक्सर सर्वथा 'व्यतीत' (निरा 'निवर्तमान') मानकर अपनी स्मृति में ला पाने योग्य नहीं मान पाते और उस भविष्य के प्रति भी- जिसे निरा सुदूर या निरी कल्पना का विषय मानकर, अपनी उम्मीदों का कोई रिश्ता उससे जोड़ने में अपने को अक्षम पाने लगते हैं।

रचनात्मक वर्तमान-बोध के संवेदनशील आयामों के व्यावहारिक प्रतिफलन के उदाहरण के तौर पर यहाँ दो लेख प्रस्तुत हैं।

Untitled-1 7 7/23/2010, 1:32 PM

सहज प्रकाशन वह मन का

रघुवंशमणि

(1)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में खड़ी बोली की कविता पर अपने चौथे प्रकाशन में काव्य की नयी धारा के तृतीय उत्थान पर विचार करते हुए अपने समय की काव्यधाराओं पर महत्वपूर्ण निर्णय दिये। ये विमर्श हिंदी खड़ी बोली की कविता में छंदों को प्रयोग के लेकर थे। वे तत्कालीन हिंदी कविता के तीन रास्तों-उर्दू फारसी बहरों, संस्कृत वृत्तों और हिंदी के छंदों की चर्चा करते हुए बताते हैं कि उर्दू और फारसी बहरें हिंदी का अपना मार्ग नहीं हैं और इस मार्ग का अवलम्बन नैराश्य और आलस्य का परिणाम ही है। वे अपने विशिष्ट अंदाज में इस मार्ग को अपने दो वाक्यों में ही निरस्त करते हुए तात्कालिकता में आगे बढ़ते हैं। संस्कृत के वृत्तों की चर्चा वे थोड़ा रुक कर करते हैं। वे उस मार्ग में कुछ दिक्कतें पाते हैं। यद्यपि संस्कृत वृत्त माधुर्यपूर्ण हैं, उनसे वे भावधारा के मेल में स्वछंदता का अभाव पाते हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृत के समावेश से खड़ी बोली की स्वाभाविक गति को अवकाश नहीं मिलता। परिणामतः शुक्ल जी इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्रबंध आदि में संस्कृत का थोड़ा बहुत आश्रय लिया जाय तो ठीक है पर ऐसा अधिक करने से खड़ी बोली के मंजने की संभावना दूर ही रहेगी।

अपने विमर्शों में आचार्य शुक्ल एक समर्थ आलोचक के ऐतिहासिक उत्तरदायित्वों को पूरा करने का प्रयास करते हैं। हिंदी की वास्तविक प्रकृति के अनुकूल छंदों के इस्तेमाल का निर्णय देते हुए वे उस सहजता के पक्ष में खड़े हैं जिसकी एक लम्बी परंपरा हिंदी साहित्य में थी। स्वाभाविकता की चर्चा को वे थोड़ा और स्पष्ट तब करते हैं जब वे 'खड़ी बोली के मंजने की संभावना' का अर्थ 'हिंदी के सब तरह के प्रचलित छंदों में खड़ी बोली की स्वाभाविक वाग्धारा का अच्छी तरह से खपने योग्य हो जाना' बताते हैं। यहाँ यह बात बड़ी स्पष्ट है कि शुक्ल जी पारंपरिक छंदों के संदर्भ में काव्य भाषा को देखते हैं और हिंदी साहित्य की वास्तविक

Untitled-1 8 7/23/2010, 1:32 PM

प्रकृति, जिसमें विषयवस्तु का निषेध नहीं, के अनुकूल काव्य माध्यम की ओर इंगित करते हैं। अपने राष्ट्रभाषा संबंधी तत्कालीन आग्रहों के चलते वे उर्दू छंदों की रवानी को परोक्ष रूप से ध्यान में रखते हुए बताते हैं कि दण्डक और सवैया में जो वर्णवृत्त हैं, लघु-गुरु द्वारा शिथिल हो सकते हैं। मात्रिक छंदों में उन्हें ऐसी कोई दिक्कत नहीं दिखाई नहीं देती। आगे वे उदारता दिखलाते हुए यह भी जोड़ देते हैं कि 'प्रचलित मात्रिक छंदों के अतिरिक्त कवि जन इच्छानुसार नये छंदों का विधान भी बहुत तरह से कर सकते हैं।' शुक्ल जी के इस वक्तव्य में हिंदी कवियों की सामर्थ्य में उनका विश्वास झलकता है। इस विश्वास को हम मैथिलीशरण गुप्त और ठाकुर गोपालशरण सिंह की चर्चा में देखते हैं जिसके दौरान वे अंग्रेजी और संस्कृत के भरोसे काव्य मैदान में उतरे लोगों को आलोचना करते हुए महावीर प्रसाद द्विवेदी की सलाह का जिक्र करते हैं कि ''तुले हुए शब्दों में कविता करने और तुक-अनुप्रास आदि ढूँढ़ने से कवियों के विचार स्वातंत्र्य में बाधा आती है।'' पर महत्वपूर्ण बात वह है जो शुक्ल जी आगे लिखते हैं—

> ''नये-नये छंदों की योजना के सम्बन्ध में हमें कुछ नहीं कहना है। यह बहुत अच्छी बात है। 'तुक' भी ऐसी कोई अनिवार्य वस्तु नहीं। चरणों के भिन्न-भिन्न मेल चाहे जितने छंद (मीटर) के पद्य भी - बिना तुकांत के हों तो बहुत ध्यान देने की बात नहीं - निराला ऐसे नये रंगत के कवियों में आते हैं।''

शुक्ल जी की दृष्टि जहां तक छंदों का प्रश्न है, उदार है। लेकिन उस उदारता की एक सीमा है। 'हिंदी साहित्य का इतिहास' में ही आगे छायावाद की अपनी चर्चा के दौरान निराला की कविता पर विचार करते समय आचार्य की उदारता का लोप उस खास चुटीली शैली में होता है जिसमें वे 'बिना छंद (मीटर) के पद्य' की चर्चा करने से नहीं चूकते।

> ''सबसे अधिक विशेषता आपके पद्यों में चरणों की स्वछंद विषमता है। कोई चरण बहुत लम्बा, कोई बहुत छोटा, कोई मझोला देखकर ही बहुत से लोग 'रबर छंद' केंचुआ छंद आदि कहने लगे थे। बेमेल चरणों की विलक्षण आजमाईश इन्होंने सबसे अधिक की है।''

आचार्य की इस चुटीली शैली का निराला ने अपने निराले ढंग से उत्तर दिया था- एक कविता में। 'परिमल' की उनकी भूमिका की प्रारंभिक अलंकारिता वस्तुतः टिप्पणियों से आहत मन को सांत्वना देने का एक प्रयास भी था। वे प्रचलित छायावादी शैली में लिखते हैं कि उनके युग के ''प्रतिभाशाली अल्पवयस्क साहित्य प्राचीन 'गुरुडम' के एक छत्र साम्राज्य में बग़ावत के लिए शासन दण्ड पा रहे हैं, अभी उन्हें साहित्य के राजपथों पर साधिकार स्वतंत्र रूप से चलने का सौभाग्य नहीं मिला।'' निराला पर शुक्ल जी के आक्षेप अपनी गंभीरता में कहीं भी इतने हल्के नहीं कि उन्हें चलताऊ टिप्पणी मानकर आगे बढ़ा जाय। वे निराला के विरुद्ध प्रतिबद्ध होकर कविता तक लिख मारते हैं। एक सामान्य सी व्यक्तिगत लगने वाली लड़ाई के पीछे वास्तव में दो दृष्टियों का टकराव था।

Untitled-1 9 7/23/2010, 1:32 PM

इस संदर्भ में निराला द्वारा लिखित 'परिमल' की भूमिका अपना महत्व रखती है। भूमिका के प्रारंभ में ही आलोचकों के अधिनायकवादी 'गुरुडम' को रेखांकित करते हुए भी निराला कविता के भविष्य के प्रति आशान्वित हैं- उस कविता के भविष्य के प्रति जो जीवन और कर्म की ओर उन्मुख है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल और निराला के आशावाद के बीच फर्क की एक गहरी लकीर खींची जा सकती है। आचार्य शुक्ल 'हिंदी की वास्तविक प्रकृति' के संदर्भ में कविता के भविष्य को देखते हैं। विचार स्वातंत्र्य की चर्चा की भी बात का घेरा हिंदी की वास्तविक प्रकृति के ही संदर्भ में है। यह घेरा शुक्ल जी की अपनी अभिरुचि का भी है।

निराला कविता की मुक्ति को वृहत्तर संदर्भों में देखने का प्रयास करते हैं। वास्तव में कविता की मुक्ति पारम्परिक छंदों के शासन भर से नहीं है, यद्यपि पारम्परिक छंदों से मुक्ति की चर्चा पारंपरिक कविता में इस आधारभूत परिवर्तन की मांग थी। मुक्त काव्य की मुक्ति वास्तव में 'स्वाधीन चेतना' के विस्तार में है जो साहित्य के कल्याण की ही मूल है। मुक्त छंद की आलाप और वन्य सौंदर्य से तुलना को तत्सामाजिक संघर्षों के सापेक्ष देखने से ही निराला की दृष्टि के वास्तविक संदर्भ उजागर होते हैं और यहीं से छायावाद को भी समझने की एक समुचित दृष्टि प्राप्त होती है। निराला की आध्यात्मिक प्रवृत्ति उन्हें मुक्त छंद के स्वभाव की तुलना के लिए ब्रहम मुक्त-स्वभाव की ओर ले जाती है। वे मुक्त छन्द के लिए वेदों के छंदों के उदाहरण की ओर उन्मुख होते हैं। वेदों के बारे में रूढ़िग्रस्त धारणा को वे 'पराधीन काल की बेड़ियों' से जोड़ते हैं। मुक्त छन्द, रूढ़ियों से मुक्ति और राजनैतिक स्वतंत्रता तीनों को निराला एक ही धरातल पर देखने लगते हैं। वेद अपौरुषेय न होकर मनुष्यकृत है पर वे मनुष्य आजकल की तरह के रूढ़ियों के गुलाम या अंग्रेजी पुस्तकों के 'नक्काल' नहीं थे। युग के अन्य व्यक्तियों के ही समान हम यहाँ निराला में एक प्रगतिशील दोहरी लड़ाई को रेखांकित कर सकते हैं। एक ओर रूढ़िवाद है और दूसरी ओर पश्चिम का अंधानुकरण। इस आलोक में देखने पर लगेगा कि मुक्त छन्द की स्थापना का प्रयास सिर्फ एक नये कलारूप की स्थापना भर का उपक्रम न था, वरन पूर्ववर्ती चित्रात्मकता और रूढ़ काव्य विषयों की पराधीनता से कविता को मुक्त कराने का प्रयास भी था।

> ''अनुशासन के समुदाय चारों तरफ से उस काव्य को जकड़े हुए हैं। साहित्य के साथ-साथ राज्य, समाज, धर्म, व्यवसाय सभी कुछ पराधीन हो गये हैं। चित्र स्वयं ससीम है, इसलिए उन्हें प्यार करने वाली वृत्ति भी एक सीमा के अन्दर चक्कर लगाया करती है और इस तरह उस वृत्ति को धारण करने वाला मनुष्य भी चाहे पहले का स्वतंत्र हो, पर पीछे से सीमा में बंधकर पराधीन हो जाता है। नियम और अनुशासन भी सीमा के परिचायक होते हैं। और क्रमशः मनुष्य जाति को क्षुद्र से क्षुद्रतर और गुलाम से गुलाम कर देने वाले।''

दासता निराला को कहीं भी स्वीकार्य न थी, न जीवन में और न कविता में। स्वाधीनता का प्रबल चेतना उनकी कविता और उनके गद्य में उभयनिष्ठ है। यह चेतना निराला को एक

Untitled-1 10 7/23/2010, 1:32 PM

ओर पारंपरिक नियमों के विरुद्ध करती है तो दूसरी तरफ उसकी राजनीतिक अभिव्यक्ति प्रतिउपनिवेशवाद में होती है। ऐसे में निराला के मुक्त छंद सम्बन्धी विचार किसी कलात्मक एकान्तिकता में नहीं खड़े होते। वे निराला की वृहत्तर मुक्तिचेतना का ही एक हिस्सा थे।

(2)

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के वैश्वक साहित्य परंपराबोध पर काफी कुछ लिखा गया है। इस संदर्भ में शुक्ल जी के पक्ष को पर्याप्त सामान्यीकृत करके प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति रही है। उक्त परंपरा में शुक्ल जी की दिशा तय करने में वैसे भी काफी दिक्कतें रहीं है। उनकी स्वीकृतियां और अस्वीकृतियां भारतीय संदर्भों के सापेक्ष होते हुए भी अपनी सीमाएं स्वयं निर्धारित करती है। भारतीय क्लासिकी समालोचना के संदर्भों में शुक्ल जी जब उस परंपरा का अर्थ खोजते हैं तो वे पीछे हटते प्रतीत होते हैं। उनका मध्यवर्गीय वैष्णव गार्हस्थ चरित्र जगह-जगह आड़े आता है। कबीर और निराला दो महत्वपूर्ण आलोच्यबिन्दु हैं, जहाँ इस चरित्र की पहचान होती है। मलयज का यह लिखना कोई गलत नहीं :

> ''छायावाद को समझने की शुक्ल जी की दृष्टि संगत होते हुए भी अपर्याप्त है। छायावाद में शुक्ल जी अंग्रेजी और बंगला का ही प्रभाव देख पाये- हिंदी की प्रकृति के विरुद्ध एक तरह का बाह्य आरोपण। वे हिंदुस्तान के बदलते परिदृश्य और उसके इम्पोर्ट को पूरी तरह नहीं आँक सके। उन ऐतिहासिक-सामाजिक शक्तियों को वे ठीक-ठीक नहीं भांप पाये, जो साहित्यिक आंदोलन को उभारती है।''
>
> *(आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 71)*

तत्सामयिक वैश्वक साहित्य परंपरा पर उनकी दृष्टि भी ध्यान देने योग्य है। आचार्य शुक्ल के आलोचकीय जीवन के महत्वपूर्ण वर्ष 1929 तक मुक्त छंद की परंपरा पूरी तरह विकसित हो चुकी थी। फ्रांस में गुस्टेव कान द्वारा 'वर्स लिब्र' के व्यापक प्रचार ने उसे साहित्य में स्थापित कर दिया था जिसकी परंपरा के वारिस बनकर इजरा पाउण्ड 1908 में इंग्लैण्ड पहुंचते हैं जहाँ विक्टोरियन कविता से ऊबे टी.ई.हुल्मे और एफ.एस.फ्लिन्ट पहले से 'पोयट क्लब' की स्थापना कर चुके होते हैं। 1912 में रिचर्ड आल्डिंगटन, हिल्डा डूलिटिल (एच.डी) और पाउण्ड बिम्बवादी आंदोलन चलाते हैं जिसके घोषणापत्र में पाउण्ड 'वर्स लिब्र' पर महत्वपूर्ण बातें लिखते हैं।

अधिक विस्तार में न जाकर संक्षेप में यह कि 1920 तक 'वर्स लिब्र' यूरोपियन कविता में आम प्रयोग तक पहुँच रहा था और उसे स्वीकृति भी थी।

अपने समकालीन यूरोपियन साहित्य (यहां तक आई.ए.रिचर्ड्स की उस समय ताजा

Untitled-1 11 7/23/2010, 1:32 PM

प्रकाशित पुस्तक) पर बहस चलाने वाले शुक्ल जी को वैश्वक परंपरा का पूर्ण ज्ञान था। अपने 'इतिहास' में वे वाल्ट व्हिटमैन की पुस्तक 'लीव्स ऑफ ग्रास' का न केवल ज़िक करते हैं, वरन उसका प्रकाशन वर्ष (1855) भी बताते हैं। लेकिन एक विद्वान की विपरीत टिप्पणी प्रस्तुत करने के उपरांत वे लिखते हैं—

> ''उसकी (वाल्ट व्हिटमैन की) ऐसी रचनाओं में छन्दोव्यवस्था का ही नहीं, बुद्धितत्व का भी प्रायः अभाव है। उसकी वे ही कविताएं अच्छी मानी और पढ़ी गयीं जिनमें छन्द और तुकांत की व्यवस्था थीं।''

वाल्ट व्हिटमैन के बारे में शुक्ल जी के ये विचार ग्रहणीय नहीं है। यद्यपि उनके विचार व्हिटमैन के तत्कालीन विरोधी समुदाय से सहमति रखते थे। उनकी कविताओं में छन्दों की सीमा के विस्तार के साथ-साथ हो रहा विषय विस्तार शुक्ल जी से अनदेखा रह जाता है। इसी प्रकार छायावाद की गोद से निकलते इस विषय विस्तार से जुड़े छंद विस्तार को शुक्ल जी शास्त्रीयता से तनिक अलगाव होने के कारण उपेक्षित रखते हैं। हम जानते हैं कि वाल्ट व्हिटमैन के फ्री वर्स में तकनीक की पूर्ण उपेक्षा नहीं है। उन्हें एक तरह से 'फ्री वर्स' या 'वर्स लिब्र' का जनक माना जा सकता है। शुक्ल जी अपने निबंध 'काव्य में अभिव्यंजना' में ई.ई. कमिंग्स की भी ऐसी ही आलोचना करते हैं। कमिंग्स की कविताएँ निश्चित रूप से अतिशय प्रयोगशील होने के कारण सामान्यतः गूढ़ है और उनकी शुक्ल जी द्वारा आलोचना का एक महत्वपूर्ण वैचारिक आधार है। तथापि इन सब बातों से यह स्पष्ट है कि शुक्ल जी इस प्रकार की कविताओं को स्वीकृति नहीं दे रहे थे।

मुक्तछंद को दी गयी आचार्य शुक्ल की अस्वीकृति के पीछे एक युगीन बोध भी कार्यरत था। महावीर प्रसाद द्विवेदी से लगाकर आचार्य शुक्ल तक के लेखन में हिंदी साहित्य और भाषा को अनुशासित और अपनी अलग अस्मिता प्रदान करने की प्रवृत्ति ही दिखायी पड़ती है जो जरूरी भी थी। महावीर प्रसाद द्विवेदी का व्याकरण और भाषा सम्बन्धी अनुशासन, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का साहित्यानुशासन, श्यामसुन्दर दास के शब्दकोष से जुड़े कार्य, मैथिलीशरण गुप्त के व्यावहारिक छंदानुशासन के प्रयास इसी प्रवृत्ति के जीवन्त उदाहरण हैं। इसलिए मुक्तछंद पर शुक्ल जी के आक्षेप अपने में अकेले न थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी ने भी इस प्रकार के कवियों पर हमला किया था। अपनी एक टिप्पणी में वे लिखते हैं :

> ''ये लोग बहुधा बड़े ही विलक्षण छंदों या वृत्तों का प्रयोग करते हैं- किसी की चार सतरें गज-गज भर लम्बी तो दो सतरें दो ही अंगुल की।''

पद्मसिंह शर्मा ने भी इसी प्रकार मुक्तछंद का मजाक उड़ाते हुए लिखा था,

> ''कामा फुलिस्टापों से जर्जरित, प्रश्न और आश्चर्य चिन्हों के तीरों से मर्माहत कभी गज-गज की लम्बी, कभी दो ही अंगुल की टेढ़ी-मेढ़ी, ऊँची-नीची गतिहीन, छंदहीन, शब्द अर्थ तुक शून्य काली सतरों सी चीटियों की टोलियाँ..''

Untitled-1 12 7/23/2010, 1:32 PM

इस दौर में इस नयी तरह की कविता पर तरह-तरह से आक्रमण हो रहे थे और मुक्त छंद का शास्त्र पहले-पहल आत्मरक्षा के शस्त्र के रूप में सामने आया।

शुक्ल जी का युग एक बेचैन समय था, नवीन साहित्य और नवीन उद्‌भावनाओं का युग। उस दौर में वैश्विक परंपरा आधुनिकता की ओर प्रस्थान कर चुकी थी जिसकी एक छाया हिंदी साहित्य पर स्पष्टतः पड़ने लगी थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल नई चीज को स्वीकृति के संदर्भ में एक इतिहासकार के स्वाभाविक संकोच को दर्शाते हैं। दूसरी तरफ निराला की रचनाधर्मिता अपनी कविता से एक अलग किस्म की माँग करती है। जाहिर है इस माँग के भी कुछ ऐतिहासिक आधार थे।

(3)

हिंदी कविता के इतिहास में छायावादी कवियों ने सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि कविता की स्वाभाविकता में पारम्परिक छंद बाधक हैं। इस युग से पहले तक छंदों की आवश्यकता पर कोई प्रश्न नहीं खड़ा किया गया था अपितु इसे कविता की अनिवार्यता के रूप में ही देखा जाता था। छायावादी कवियों को ऐसा लगा कि भावों के सहज प्रवाह की सहज अभिव्यक्ति में पारम्परिक छंद बाधा पहुँचाते हैं। इनके होने से तमाम अवसरों पर कवि कर्म दुष्कर हो जाता है और कविता की भी क्षति होती है। छायावाद अपनी स्वतंत्रता की भावना के तहत कविता में भावों की सहज अभिव्यक्ति को जिस सीमा तक महत्व देता था उसमें छंद कहीं सहायक हो सकते थे तो कहीं बाधक। निराला और पंत को जहाँ ये तत्व बाधक लगे उन्होंने इसका विरोध किया। दूसरे शब्दों में यह कह सकते है कि हिंदी में पारम्परिक छंदों की सीमाओं की ओर सबसे पहले छायावादी कवियों ने किया।

यह संकेत किसी सिद्धांतकार या काव्यशास्त्री के नहीं थे। कविता के क्षेत्र में जुटे रचनाकारों के प्रश्न व्यावहारिक धरातल से उठ रहे थे। हिंदी भाषा के उच्चारण और संगीत के अनुकूल छंदों में क्या परिवर्तन किये जाएं, यह विचार का क्षेत्र था। उदाहरणार्थ महाप्राण निराला को हिंदी कविता की प्रकृति की गहरी जानकारी थी। यही कारण है कि उनके प्रश्न हिंदी कविता के लिए दूर तक प्रासंगिक रहे हैं। उन्होंने शुक्ल जी की तरह अपने समय के किसी परिदृश्य को सहसा निरस्त नहीं किया। अपने संबंध में वे हिंदी कविता को छंद और भाषा के स्तर पर बंगला कविता से विलगाते हुए लिखते हैं :

> ''बंगला में गणात्मक छंद नहीं हैं, न हो सकते हैं। किसी बंगाली पण्डित ने संस्कृत छंदों का प्रयोग किया है सही, पर उसका विशेष आदर नहीं हुआ। यद्यपि बंगला में सभी छंद मात्रिक हैं, फिर भी हिंदी के मात्रिक छंदों से उसमें कुछ विशेषता है। बंगला में क्रियापद पर जोर नहीं दिया जाता। यही अंतर सारे अन्तरों की जड़ है। उसके कारण ही बंगालियों को हिंदी छंद खटकता है। हिंदी में क्रिया पर अधिक जोर दिया जाता है। प्रायः

Untitled-1 13 7/23/2010, 1:32 PM

कविता के प्रत्येक चरण में क्रिया लगी रहती है। इधर हिंदीवाले बंगला की कविता में आशानुरूप क्रिया न मिलने पर घबड़ाते हैं, दूसरे ढंग से साथ न पढ़ सकने के कारण काव्य का आनन्द भी नहीं पाते। यही हाल हिंदी पढ़ते सयम बंगालियों का होता है। कुछ भी हो, कवित्व का चमत्कार दोनों भाषाओं में पर्याप्त है।''

(हिंदी और बंगला की कविता, निराला रचनावली 5/138)

वर्ष 1923 में 'समन्वय' में छपी निराला जी की इस टिप्पणी से स्पष्ट होता है कि वे हिंदी कविता में छंदों की परम्परा को कितनी गहराई से समझते थे और उसे हिंदी भाषा की प्रकृति से किस प्रकार जोड़ते थे। यह उद्धरण निराला जी की कविता पर लगे उन आरोपों को निराधार सिद्ध करता है जो उनकी कविता पर बंगला का अतिशय प्रभाव दिखलाते हैं। बंगला का थोड़ा बहुत प्रभाव उनकी कविता की निजता के हिंदीत्व को कहीं भी ग्रसित नहीं करता।

हिंदी की पारम्परिक कविता चर्चा से अलग छायावादी कवियों ने छंदों में परिवर्तन को आवश्यक माना। सुमित्रानन्दन पंत ने इस ओर संकेत करते हुए लिखा था कि छायावादी कविता में मात्रिक तथा लय के छंदों के अतिरिक्त आलापोचित अक्षर मात्रिक युक्त छंद का भी बहुतायत प्रयोग किया है।

(रश्मिबंध परिदर्शन, पृष्ठ 18)

आलापोचित अक्षर मात्रिक युक्त छंदों से सुमित्रानन्दन पंत का तात्पर्य उन छंदों से है जो आलाप को महत्व दें, अर्थात गेय हों। ये छंद मात्रिक होते हुए भी परम्परागत मात्रिक नहीं। ये छंद पढ़े भी अलग तरीके से जायेगें। कहें तो पाठविधि या गायन विधि या आलाप ही केन्द्र में है। छंद के बंधन से मुक्त न होते हुए भी ये परम्परागत छंदों में किये गये गंभीर हस्तक्षेप थे जिन्हें परम्परानुयायियों ने अच्छा नहीं माना था।

लेकिन छायावादी कविता को यहीं नहीं ठहरना था। निराला ने 'परिमल' की भूमिका में 'छंदों के शासन से अलग' होने की चर्चा की तो यहँ भी भावप्रवाह के बाधित होने की बात थी। निराला ने जब यह बात कही तो सुमित्रानन्दन पंत ने भी इसका समर्थन किया। प्रारम्भ में पंत जी ने पारम्परिक छंद का लयमान हो जाना ही काफी माना मगर बाद में उन्होंने भी कविता की मुक्ति की घोषणा अपनी प्रसिद्ध पंक्तियों में की थी :

''खुल गये छंद के बंध प्रास के रजत पाश।
अब गीत मुक्त और युगवाणी बहती अयास।।''

(युगवाणी)

कविता में छंदों को अधिक लचीला और व्यापक बनाने की मांग सिर्फ छायावादियों की ओर से आयी हो, ऐसा नहीं। इस जरूरत को दूसरी धारा के कवि भी महसूस कर रहे थे, मगर

Untitled-1 14 7/23/2010, 1:32 PM

छायावादी कवियों ने, विशेषकर निराला ने इस तथ्य को क्रान्तिकारी तरीके से सामने रखा। उन्होंने इस विचार के चारों तरफ एक शास्त्र रचा और इतना ही नहीं, उसे व्यवहारतः संभव भी किया। इन गतिविधियों के बरक्स छंद में ही लिखने वाले मैथिलीशरण गुप्त ने भी कहीं-कहीं इस तरह के छंदों को स्वीकृति दी :

> ''संभव है कभी कभी अनुप्रास से कोई बात ध्यान में आ जाय, परन्तु कौन कह सकता है कि अनुप्रास के कारण जो भाव सूझा है उसके बिना उससे बढ़कर भाव न सूझता। बहुधा ऐसा होता है कि अनुप्रास के लिए भाव भी बदल देना पड़ता है। शब्दों के तो तोड़ मरोड़ की तो कोई बात ही नहीं। कभी-कभी अनावश्यक और अनर्थक पद का प्रयोग करने तक के लिए विवश होना पड़ता है।''
>
> *('मेघनाद वध' की भूमिका)*

यहाँ गुप्त जी के इस उद्धरण को प्रस्तुत करने से मेरा यह मंतव्य कतई नहीं कि वे मुक्त छंद के समर्थक थे। यहाँ उद्देश्य सिर्फ यह बताना है कि पारम्परिक छन्दों की सीमाओं को बहुत से कवि महसूस कर रहे थे। गुप्त जी एक स्थान पर लिखते हैं कि वे 'बेतुकी' रचना का भी उतना ही आदर करने को प्रस्तुत हैं जितना कि 'तुकबंदी' का। मगर इस टिप्पणी को भी बहुत क्रान्तिकारी अर्थों में ग्रहण नहीं किया जाना चाहिए। कविता की मुक्ति के सन्दर्भ में छंदों में निराला का हस्तक्षेप प्रारम्भिक और क्रान्तिकारी था।

छायावादी कविता में हम छंद के बंधनों के स्थान पर संगीत और पाठ के महत्व को प्रतिपादित होते देखते हैं। ध्यातव्य है कि छंद का बंधन भी साहित्य को - यानि कविता को - संगीत का आधार प्रदान करने के लिए ही होता है। मगर यह आधार जब रूढ़िबद्ध होता है तो कविता में संगीत को भी सीमित कर देता है। निराला का संगीत ज्ञान काफी पुष्ट था। वे कविता और संगीत को मिला कर देखते थे। वे मंचों पर हारमोनियम बजाते हुए भी कविताएँ सुनाते थे। अतः संगीत के सापेक्ष भी वे पारम्परिक छन्दों की सीमाओं को रेखांकित कर पाते हैं।

''...छंद स्वर का तार है वह शब्दों की माला है, अर्थात्मक वाक्यों की एक परिमित लड़ी है। चौताल में चाहे कोई भैरवी गाये या गौरी या विहाग गाये या तिलकआमोद मुल्तान गाये चाहे कान्हरा सबमें वही है - धाधा धिन्ता कत्तिक धिन्ता किटतक गदगिन् - बजता है। संगीत की उतनी ही स्थिति में बजानेवाला अपने वाक्य को दून भी कर देता है और दून में भी वाक्य की स्वरस्थिति उतनी ही रहती है जितनी कि 'ठा' में। अक्षरों से इसका तात्पर्य यों कहा जाता है। - चार दीर्घ वर्णों की उच्चारण स्थिति जितनी होगी उतनी ही आठ ह्रस्व वर्णों की। इससे हमें यह सूचित होता है कि संगीत की ताल में जिस तरह शब्दों की एक परिमित लड़ी होती है, छंद में भी उसी तरह स्वर का एक परिमित बहाव होता है। उस परिमित बहाव में यदि छंद मात्रिक है तो हर एक लड़ी की मात्राएँ बराबर होंगी और यदि वह वर्णवृत्त है तो प्रत्येक तार के अक्षर बराबर होंगे। बस यही छंदशास्त्र का मूलमंत्र है। फिर चाहे कोई लड़ियों के करोड़ों

Untitled-1 15 7/23/2010, 1:32 PM

भेद बना डाले, किसी किसी लड़ी में यगण, मगण, नगण के संयोग से मदन-दहन छंद की सृष्टि करे और चाहे किसी में सोलह मात्राएँ रखकर उसका नाम उलूकमोहन रक्खेः यह कोई वैज्ञानिक बात नहीं।''

(निराला ग्रंथावली 5/152)

निराला के ये शब्द उनके संगीत ज्ञान को रेखांकित करते ही हैं, उनकी स्वतंत्र काव्यशास्त्र सम्बंधित चिंतन क्षमता को भी बतलाते हैं। वे संगीत के परिमित बहाव में छंदों की परिमिति को देखते हैं। वे वर्ण और मात्रा के अन्तरों को भी संगीत के आधार पर और छंदशास्त्र के आधार पर निरस्त करते हैं। संगीत केवल मात्रिक छंद में ही होगा ऐसा वे नहीं मानते। ध्यान देने की बात है कि निराला आगे लिखते हैं कि ये सभी छंद चूँकी नियमों में बंधे हैं, अतः वे मुक्त भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकते और इसी कारण मुक्तकाव्य नहीं हो सकते। मुक्त काव्य का संगीत पारम्परिक छंदों के संगीत से बाहर निकलेगा और इसके लिए निराला जी के पास 'परिमित के बरक्स 'अमित' शब्द है :

> ''जिस तरह मुक्त पुरुष संसार के किसी भी नियम के वशीभूत नहीं रहते, किन्तु उन नियमों की सीमा पार कर सदा मुक्ति के आनन्द में विहार करते रहते हैं उसी तरह मुक्त कवि भी अपनी कविता को पिंगल के बंधन में नहीं रखना चाहते। भारती के सूक्ष्म भांडार के अधिकारी वे अमर कवि उसे सम्पूर्ण नियमों से मुक्त कर देते हैं। उनकी कविता परिमित नहीं- अमित है। वह पराधीन नहीं स्वाधीन है।''
>
> *(निराला ग्रंथावली 5/152)*

(4)

सुमित्रानन्दनपंत की प्रवृत्ति स्वछंदतावाद के चलते पारम्परिक नियमों से आगे की थी। रूढ़ नियमों की पराधीनता उन्हें भी स्वीकार न थी। अतः अपनी कविता पुस्तक 'पल्लव' के विज्ञापन में ही वे हिंदी में प्रचलित व्याकरण और लिंग के नियमों से अपनी कविता के विचलन से पाठकों को परिचित कराते हैं। 'व्याकरण की लौह कड़ियाँ' तोड़ने के पीछे उनका उद्देश्य उस सहजता की प्राप्ति ही थी जिसमें 'भाव और स्वर का पूर्ण सामन्जस्य' मिलता हो। हिंदी कविता के विकास को भी वे सहजता की ओर उन्मुख देखते हैं। 'पल्लव' की भूमिका में वे खड़ी हिंदी बोली में कविता के विकास को देखते हुए ही कहते हैं कि 'हिंदी ने अब तुतलाना छोड़ दिया' है। ब्रज बोली के साहित्य की संकुचित विषय परिधि के समानान्तर हिंदी खड़ी बोली को रखते हुए ही वे भाषा नहीं राष्ट्रभाषा' की जरूरत पर बल देते हैं। खड़ी बोली के 'राजपथों में जो विस्तार और व्यापकता' है, वह उन्हें संतोष प्रदान करती है। ब्रजभाषा की अबुद्धिसंगतता पर

Untitled-1 16 7/23/2010, 1:32 PM

कड़े प्रहार का कारण अभिव्यक्ति की सहजता का अभाव है जिसे पंत जी 'भाव और भाषा' के 'मधुर मिलन' में देखते हैं और जिसे वे 'सरस संधि' कहते हैं। अपनी छायावादी भाषा भंगिमा में भी पंत स्पष्ट हैं कि 'स्वस्थ वाणी में जो सौंदर्य मिलता है उसका ब्रज कविता में कहीं पता नहीं।'

कविता में अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग पर बल देते हुए पंत कविता में शब्दार्थ के भाव की अभिव्यक्ति में डूबे होने को रेखांकित करते हैं। कविता के संगीत के चर्चाप्रसंग में सुमित्रानन्दन पंत ने छायावाद के अवदान को इस प्रकार रेखांकित किया :

> ''छायावाद ने हिंदी छंदों की प्रचलित प्रणाली को आमूल बदल दिया था। 'आमूल' शब्द का प्रयोग इसलिए कर रहा हूँ कि छायावादी कवियों ने छंदों में मात्राओं से अधिक महत्व उसके प्रसार और स्वर संगति को दिया। उन्होंने कई प्रचलित छंदों को अपनाते हुए भी उनके पिटे पिटाये यतिगति में बंधे रूप को स्वीकार न कर, उनमें प्रसार की दृष्टि से नये प्रयोग कर दिखाये। स्वर संगति का भी उनका कविता में अद्‌भुत चमत्कार मिलता है।''
>
> *('पल्लव' की भूमिका)*

सुमित्रानन्दन पंत के 'आमूल' शब्द की सीमा को यहाँ देखा जा सकता है। वे निश्चय ही छंद के मामले में छायावाद की क्रांतिकारी भूमिका को रेखांकित कर रहे थे, मगर उनके रेखांकन की सीमाएँ बहुत साफ दिखती हैं। हिंदी कविता के छंदों के इस सीमाबद्ध परिप्रेक्ष्य में निराला की क्रान्तिकारी भूमिका को देखा जा सकता है। वे परम्परावादी हिंदी कविता के संगीत से काफी आगे निकल जाते हैं।

'परिमल' और 'गीतिका' की भूमिकाओं को पढ़ते हुए हम निराला के छंद सम्बन्धी विचारों को ठीक से समझ सकते हैं। अपने संग्रह 'परिमल' की संरचना की चर्चा करते हुए निराला जी लिखते हैं कि उन्होंने अपने संग्रह में तीन प्रकार की कविताएँ रखी हैं। प्रथम खण्ड में 'सममात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ' थीं जो उस समय कविता जगत में प्रचलित और स्वीकृत थीं। अतः उनके लिए 'हिंदी के लक्षण ग्रंथों के द्वारपालों को ''प्रवेश निषेध'' या ''भीतरजाने की सख्त मामूनियत है'' कहने की जरूरत शायद न होगी।' दूसरे खण्ड में उन्होंने विषम मात्रिक सान्त्यानुप्रास कविताएँ रखी थीं जिस तरह की कविताएँ पंत जी लिख रहे थे। तीसरे खण्ड में 'स्वच्छंद छन्द' की कविताएँ थीं। जिसके सम्बन्ध में निराला जी ने कुछ विशेष कहने की आवश्यकता समझी क्योंकि उसे ही 'हिंदी में सर्वाधिक कलंक का भाग मिला था। यहाँ निराला स्वछंद छंद को अलग करते हुए उसके समर्थन में उतरते हैं। 'परिमल' के तीन भागों में विभाजन के उद्‌देश्य भी यहाँ स्पष्ट हैं। इस विभाजन द्वारा निराला जी हिंदी कविता में छंदों की तीन परम्पराओं का उल्लेख करते हुए अपने मुक्तछंद सम्बन्धी विचारों को पंत के मुक्तछंद सम्बन्धी कविताओं से विलगाने का प्रयत्न करते हैं। वे विषममात्रिक सान्त्यानुप्रास के बरक्स

Untitled-1 17 7/23/2010, 1:32 PM

मुक्तछंद की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं।

निराला मुक्तछंद की परम्परा को किसी विदेशी लेखक से नहीं जोड़ते। ध्यातव्य है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस परम्परा को वाल्ट व्हिटमैन की कविताओं से जोड़ा था। निराला जी इस परम्परा को वेद से जोड़ते हैं और कई उदाहरणों के द्वारा अपनी तर्क को पुष्ट भी करते हैं। वे वेदों को औपरुषेय नहीं मानते मगर वे कहते हैं कि यदि वेद अपौरुषेय है तो इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर ने भी मुक्तछंद में रचनाएँ की हैं।

'अजी, परमात्मा स्वयं अगर यह रबर और कचुवा छंद लिख सकते हैं, तो मैंने कौन सा कुसूर कर डाला? आखिर आपके परमात्मा का ही तो अनुसरण किया है?'

इस मनोविनोद से आगे निराला स्वछंद वेदकालीन सृष्टि के सापेक्ष बाद की कविता को रखते हैं। संस्कृत काल के गणात्मक छंद वैदिक काल में नहीं थे। परवर्ती चित्रप्रियता ने साहित्य में नियंत्रण को महत्व दिया। कविता बंधन में बंध गयी। उसकी मुक्ति अब इन बंधनों के पार जाने में ही है।

(निराला रचनावली, 1/426)

'गीतिका' की भूमिका के प्रारम्भ में भी निराला वेदों में स्वर के साथ 'शब्द, भाव, और छंद' तीनों के मुक्त होने की चर्चा करते हैं। उनके मतानुसार संस्कृत में व्याकरण और संगीत का बंधन वेदोपरान्त का है। छंद के अधिक कड़े बंधन से कविता का पतन होता है। 'अधिक अस्त्र-शस्त्र बाँधने से शस्त्र-संचालन की असली शक्ति जिस तरह काम नहीं करती-सिपाही बोझ से दब जाता है-दूसरे पर विजय प्राप्त करने की जगह उसी के प्राण संकट में पड़ते हैं, वैसे ही तानों के भार से संगीत के क्षीण वृंत पर खिला पुष्प-शरीर झुकता गया।'

'गीतिका' की भूमिका में वे आगे स्पष्ट करते हैं कि इस सबका उनका उद्देश्य है 'खड़ी बोली के उच्चारण संगीत' के भीतर से 'जीवन प्रतिष्ठा' का स्वप्न। जीवन की प्रतिष्ठा का स्वप्न ही उन्हें मुक्तछंद की ओर ले जाने वाला है क्योंकि उन्हें ब्रजभाषा के छंदों से खड़ी बोली के छंदों को आगे ले जाना था। निराला का अधिकांश साहित्य जीवन की प्रतिष्ठा पर ही बल देता है। उनके यर्थाथवादी उपन्यास उसी प्रकार जीवन प्रतिष्ठा का प्रयास करते हैं जैसे उनकी काव्य कृतियां। निराला गद्य को जीवन संग्राम की भाषा मानते थे, अतः जीवन की प्रतिष्ठा में गद्य के करीब आने वाले मुक्तछंद की ओर उनकी प्रवृत्ति बहुत स्वाभाविक थी।

हिंदी भाषा की कविता में मुक्तछंदों का आना एक महत्वपूर्ण घटना थी, संभवतः कविता के लिए सबसे बड़ी घटना। इस नये प्रयोग के लिए छायावाद की मुक्ति भावना ने एक पृष्ठभूमि तैयार की, परन्तु इसके क्रान्तिकारी शुभारम्भ के लिए निराला जैसे साहसी और गहरे आत्मविश्वास वाले कवि की जरूरत थी। निराला के गहरे आत्मविश्वास के महत्व को भी समझना चाहिए जो मुक्तछंद के सिलसिले में था। इस प्रकार के साहस का अभाव सुमित्रानन्दन पंत और प्रसाद में दिखाई पड़ता है जिन्होंने निराला की ही तरह मुक्तछंद का इस्तेमाल किया था। नंदकिशोर नवल ने पंत की कविताओं पर टिप्पणी की है कि वे कभी भी पारम्परिक छंदों को न छोड़ सके थे। उनकी कविताएँ 'सरस्वती' में छपती रही थी और 'पल्लव' और 'वीणा'

Untitled-1 18 7/23/2010, 1:32 PM

इण्डियन प्रेस से ही छपी थी। मुक्तछंद का विरोध करने वाली सरस्वती भी इण्डियन प्रेस से ही छपती थी। (बहुवचन, वर्ष 1, अंक 1, पृष्ठ 112) निराला द्वारा किये गये मुक्तछंद के प्रयोग परम्परा को गहरी चुनौती देने वाले थे। संक्षेप में निराला के लिए मुक्तछंद उनके उस स्वभाव के करीब था जिसमें मुक्तिकामना और जीवन की प्रतिष्ठा का संकल्प भरा हुआ था। मुक्तछंद के प्रयोग को लेकर लोगों के मन में तरह-तरह की आशंकाएँ थीं, मगर निराला के हृदय में इस बारे में कोई संदेह नहीं था। परिमल की भूमिका में निराला के अपने काव्य उपादनों के प्रति गहरे विश्वास की झलक मिलती है। समय ने यह सिद्ध किया है कि निराला के छंद सम्बन्धी विचार गलत नहीं थे और मुक्तछंद को लेकर दूसरों द्वारा प्रकट की गयी आशंकाएँ अवश्य निर्मूल थीं।

परिमल की ऐतिहासिक भूमिका में मुक्तछंद को परिभाषित करते हुए निराला लिखते हैं, ''मुक्त छंद तो वह है जो छंद की भूमिका में रहकर भी मुक्त है। नियम कोई नहीं है, केवल प्रवाह कवित्त छंद सा जान पड़ता है। मुक्तछंद का समर्थक उसका प्रवाह ही है। वही उसे छंद सिद्ध करता है और उसका नियमराहित्य उसकी मुक्ति।''

निराला ने प्रवाह को उसका निर्धारक तत्व बतलाते हुए उसे छंद के प्रमुख तत्व के रूप में व्याख्यायित किया है। इस प्रकार मुक्तछंद नियमों में बंधा भी है और मुक्त भी। इस विरोधाभास को प्रवाह के संदर्भ में ही हल किया जा सकता है। प्रवाह से निराला का मंतव्य संगीत से जुड़े प्रवाह से भी था और उससे आगे बोलचाल की भाषा के प्रवाह से भी। अज्ञेय से हुई अपनी एक बातचीत में उन्होंने संगीत के प्रमाण होने और वार्तालाप के प्रमाण होने की चर्चा की थी। ये दोनों प्रमाण निराला के मुक्तछंद के लिए प्रवाह शब्द में समाहित हो जाते हैं। छंद की मुक्ति का एक संदर्भ यह भी बनता है कि प्रवाह को महत्वपूर्ण मान लेने पर पारम्परिक छंदों में अनिवार्य समझी जाने वाली चीजों जैसे यति, गति, मात्रा और वर्ण के नियमित करने वाले बंधनों के परे जा पाना संभव हो जाता है। यहाँ परे जाने का मतलब है उन्हें अपरिहार्य न मानना है, उनसे पूर्ण मुक्ति नहीं।

यदि विचार करें तो प्रवाह के तत्व छंदबद्ध कविता में भी रहते हैं, लेकिन उन्हें कभी प्रमुखता नहीं दी गयी थी। इस प्रवाह को तुक विहीन छन्दों में आसानी से पकड़ा जा सकता है। पश्चिम में वर्डस्वर्थ की कविता में अक्सर मूवमेन्ट की बात की जाती है। यह मूवमेन्ट शब्द प्रवाह के काफी नजदीक आता है। ध्यातव्य है कि भगवतीचरण शर्मा ने एक स्थान पर मुक्तछंद के लिए गति को महत्वपूर्ण माना है। ('मधुकण' की भूमिका) गति और प्रवाह में सूक्ष्म फर्क तो होंगे मगर एक दिशा जरूर होगी। अब इसी तरह प्रवाह तत्व के चलते ही मुक्तछंद को निखालिस गद्य से विलगाया जा सकता है। मगर यह भी एक तथ्य है कि गद्य में भी एक प्रवाह होता है। इसी के चलते संभवतः परमानन्द श्रीवास्तव सरीखे आलोचकों ने गल्प रचनाओं में छंद होने की चर्चा की है।

हिंदी कविता में छंद को यह ऐतिहासिक अर्थ दिलाने का काम महाप्राण निराला द्वारा संभव हुआ। हमारे समय में कविता को लेकर बहुत सी गलतफहमियाँ हैं। अक्सर असावधानीवश लोग कविता से तात्पर्य केवल मुक्तछंद से लगाने लगे हैं। इस प्रकार कविता बनाम गीत, गज़ल आदि जैसे द्वैतसाँचे निर्मित होते हैं। गीत और गज़ल रचने वालों को यह शिकायत रहती है कि

Untitled-1 19 7/23/2010, 1:32 PM

आलोचक कविता को, अर्थात मुक्त छंद को ही महत्व देते हैं। निराला के पास जाया जाय तो हम इस द्वैतसाँचे को टूटता हूआ पाते हैं। मुक्तछंद के बारे में चर्चा करते हुए ही निराला जी इस द्वैत साँचे से निपटते हुए दिखाई पड़ते हैं जब वे यह लिखते हैं कि मुक्तछंद अपने प्रवाह के कारण मुक्त है भी और मुक्त नहीं भी है। अर्थात कविता के दायरे में सब कुछ है, मुक्तछंद और परम्परिक छंद दोनों।

निराला ने मुक्तछंद का प्रयोग काफी सोच समझकर और सतर्कतापूर्वक किया था। वे 'मुक्तछंद' पद के स्थान पर 'छंदमुक्त' पद का भी इस्तेमाल कर सकते थे। मगर इस प्रयोग से कितना सत्यानाश होता इसका अनुमान हम आज की छंद सम्बंधी बेसिरपैर की बहसों से बड़ी आसानी से लगा सकते हैं।

(5)

निराला की सतर्कता के बरक्स हम अन्य आलोचकों की असतर्कता को रेखांकित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए निराला जी की तुलना में भगवतीचरण वर्मा कम सतर्क हैं। वे गद्य को गतिहीन - प्रायः गतिहीन - मानकर मुक्तकाव्य और गद्य में भेद करने का प्रयास करते हैं तो वे स्पष्टतः एक बड़ी सैद्धाँतिक त्रुटि करते हैं। इसी प्रकार जब पंत मुक्तछंद के लिए 'लय' को महत्व देते हैं तो वे कविता की आगे आने वाली संभावनाओं को सीमाबद्ध करते हैं क्योंकि लय अर्थात रिद्म को बाद की हिंदी कविता ने बारंबार तोड़ा है। लेकिन यदि प्रवाह को बातचीत के प्रवाह तक ले जाया जाय तो वह आज भी अधिक महत्वशाली और समीचीन लगेगा, यद्यपि 'लय' को भी हम बातचीत की लय अथवा जीवन की लय तक व्यापक कर सकते हैं।

मुक्तछंद अथवा स्वच्छंद को लेकर निराला और पंत के बीच जो थोड़े मतभेद नजर आते हैं उनका कारण दोनों कवियों के स्वभावगत अंतर और अभिरुचि की भिन्नताएँ हैं। पंत ने स्वछंद छंद का आधार लय को माना है जबकि निराला ने प्रवाह को। निराला के स्वभाव में ही कड़े नियमों की स्वीकृति न थी। उनका जीवन भी एक ऐसे व्यक्ति का था जो पुरानेपन को स्वीकार न करता था। पंत की सुकुमारता या कोमल भावों की ओर उनकी रुझान ने उन्हें लय को महत्व देने के लिए प्रेरित किया। निराला ने जब पंत की कविताओं में स्त्रैण गुणों के होने की बात कही थी तो वे पंत के स्वभाव का मूल्यांकन अपने स्वभाव की अवस्थिति से कर रहे थे। रोचक प्रसंग है कि जब किसी ने निराला से पंत जी की प्रगतिशील हो जाने की बात की थी तो निराला जी ने उत्तर दिया था कि यदि पंत प्रगतिवादी हो गये हैं तो मुझे जंगलवादी हो जाना चाहिये। पंत और निराला के बीच का यह स्वभावगत अंतर ही उन्हें मुक्त छंद के अलग-अलग आधारों की ओर ले जाता है।

निराला मुक्तछंद के बारे में चर्चा करते समय उसे अतुकांत काव्यों से अलग बतलाते हैं। केवल तुक के अभाव में कोई कविता अतुकांत हो सकती है मगर मुक्तछंद होने के लिए इतना भर पर्याप्त नहीं।

Untitled-1 20 7/23/2010, 1:32 PM

''अंत्यानुप्रास उड़ा देने से ही अतुकांत काव्य बन जाता है। ...इसी तरह की कविता अतुकांत काव्य का गौरव भले ही अधिकृत करती हो, वह मुक्तछंद या स्वछंद छंद कदापि नहीं। जहाँ मुक्ति रहती है वहाँ बंधन नहीं रहते, न मनुष्य में, न कविता में।''

('परिमल' की भूमिका)

निराला मुक्तछंद को छंद के भीतर भी स्वतंत्र बताते हुए उसे पूर्ण मुक्ति की ओर ले जाने की बात करते हैं। यह मन्तव्य नये-नये छंदों की ओर ले जाने वाला है और यह हमारे समय की कविता के लिए अत्यंत प्रासंगिक सैद्धाँतिकी है। बंधनहीनता पर निराला का जोर मुक्तछंद के लिए नई-नई तलाश की राहें खोलने वाला था। इस अर्थ में 'वरदे' कविता के नये अर्थ प्राप्त होंगे जिसमें निराला 'नवगति नवलय ताल छंद नव' के लिए वीणा वादिनि से प्रार्थना करते हैं। यहाँ नव विहंग को नव पर देने की बात के भी गहरे व्यापक निहितार्थ होंगे। यह निराला की प्रार्थना और कामना दोनों थी।

''आज मुझे है नहीं और कुछ चाह
अर्थ विकच इस हृदय कमल में आ तू
प्रिय! छोड़ बंधनमय छंदों की छोटी राह
गजगामिनी! यह पथ तेरा संकीर्ण कंटकाकीर्ण
कैसे होगी उससे पार''

कविता के लिए यदि स्वच्छंद भाव आने हैं, नये विषय और विचार आने हैं तो कविता के लिए नये रूप की भी आवश्यकता होगी। इसी कारण निराला जी को लगता है कि कविता को परम्परागत छंदों का कंटकाकीर्ण मार्ग अच्छा नहीं लगता है। यह मानवीकरण कविता सम्बन्धी निराला की अभिरुचि की ओर संकेत भी है जिसके क्रान्तिकारी प्रतिफलन हिंदी कविता के इतिहास में संभव हुए। इस ओर संकेत उनकी दूसरी कविता में है :

''मुक्त छंद
सहज प्रकाशन वह मन का
निज भावों का प्रकट अकृत्रिम चित्र।''

'सहज प्रकाशन', 'निज भाव' और 'अकृत्रिम' चित्र जैसे पद सहज ही निराला के उन मंतव्यों की ओर संकेत करते हैं जो उनका मुक्तछंद से था। इसी के चलते उन्होंने 'मुक्त' छंद की छोटी बड़ी सतरों को न्यायोचित ठहराया। इसके लिए वे मुक्तछंद की स्वाभाविकता को महत्व देते हैं। लेकिन निराला मुक्तछंद से जुड़े एक नये तत्व की ओर भी संकेत करते हैं,

''मुक्तकाव्य में बाह्य समानता दृष्टिगोचर नहीं हो सकती। बाहर केवल पाठ से, उसके प्रवाह में जो सुख मिलता है, उच्चारण से मुक्ति की जो अबाध

Untitled-1 21 7/23/2010, 1:32 PM

धारा प्राणों को सुख प्रवाह सिक्त निर्मल किया करती है, वही इसका प्रमाण है।''

(पंत और पल्लव)

पारम्परिक छंदबद्ध रचना से मुक्तछंद की भिन्नता को निराला यहाँ इस अर्थ में रेखांकित कर रहे हैं कि पारम्परिक छंदबंध में बाहरी समानता दिखायी देती है। परन्तु मुक्तछंद में यह समानता बाहरी नहीं होती। इस समानता को देखने के लिए कविता के अंतर में प्रवेश करने की जरूरत होगी। दूसरे शब्दों में मुक्तकाव्य में रूप और कथ्य के बीच बनते सम्बन्ध गहरे और जटिल होते हैं और उनका मुख्य उद्देश्य भावों की अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण है। संभवतः सम्प्रेषण से भी ज़्यादा गहरी चीज अभिव्यक्ति है। मुक्तछंद में भी पाठानन्द होता है और यह अधिक सूक्ष्म और अन्तग्रर्थित होता है। मुक्तन्द की प्रकृति और उसके पाठानन्द को बताते हुए निराला ने एक विशिष्ट बिम्ब की सर्जना की है जो अपने तरीके से बात को स्पष्ट करता है।

''छंद भी जिस तरह कानून के अन्दर सीमा के सुख में आत्मविस्मृत हो, सुन्दर नृत्य करते हैं, उच्चारण की शृंखला रखते हुए श्रवण माधुर्य के साथ ही श्रोताओं को सीमा के आनन्द में भुला रखते हैं, उसी तरह मुक्तछंद भी अपनी विषम गति में एक ही साम्य का अपार सौंदर्य देते हैं जैसे एक ही अनन्त महासमुद्र के हृदय की छोटी बड़ी तरंगे हों, दूर प्रसारित दृष्टि में एकाकार, एक ही गति में उठती और गिरती हुई।'' ('परिमल' की भूमिका)

निराला ने इस प्रकार छोटी-बड़ी पंक्तियों में निहित काव्यत्व को रेखांकित किया है। यह काव्यत्व निश्चित रूप से छंदबद्ध कविता के काव्यत्व से अलग था जिसे बाद के आलोचकों ने निराला को ही आधार बनाते हुए कविता में देखने की कोशिश की। इस काव्यत्व की एक विशेषता, जिसकी ओर निराला का प्रछन्न संकेत रहा है वह रूप की ऐसी एकता है जो विषय को समाहित करके ही अपनी पूर्णता को प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में मुक्तछंद में कथ्य और शिल्प का भेद कम हो जाता है।

(6)

मुक्तछंद के आधार को लेकर निराला और पंत में कुछ बुनियादी मतभेद थे। इस मामले में अक्सर निराला और पंत के बीच चलती लागडाट की भी कथा कही जाती है। प्रारम्भिक दौर में निराला ने पंत की कविता की काफी प्रशंसा की थी, मगर 'पल्लव' की भूमिका में पंत की थोड़ी विपरीत टिप्पणी से आहत होकर उन्होंने अपना प्रसिद्ध निबंध 'पंत और पल्लव' लिखा था। मगर मेरे विचार से यह विवाद मात्र लागडाट का मामला नहीं था। निराला और पंत के बीच चले विवाद के परिप्रेक्ष्य में दोनों कवियों की अलग-अलग वैचारिक अवस्थितियाँ भी महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभा रही थीं। निराला के अनुसार कवित्त छंद को लेकर ही हिंदी मुक्तछंद

Untitled-1 22 7/23/2010, 1:32 PM

सफल हो सकता है। इसका कारण वे यह बताते हैं कि लम्बे समय से यह छंद हिंदी में प्रचलित रहा है। इतना प्रचलित कि इसे हिंदी का जातीय छंद कहा जा सकता है।

> ''हिंदी के मुक्तकाव्य, कवित्त छंद की बुनियाद पर सफल हो सकता है, कारण यह छंद चिरकाल से इस जाति के कंठ का हार हो रहा है। दूसरे इस छंद में एक विशेष गुण यह भी है कि इसे लोग चौताल की तीन तालों में सफलतापूर्वक गा सकते हैं, और नाटकादि के समय उसे काफी प्रवाह के साथ पढ़ सकते हैं।''
>
> *('*परिमल*' की भूमिका)*

जैसा कि इस उद्धरण से स्पष्ट है निराला कवित्त को हिंदी संगीत की जातीय परम्परा से जोड़ते हैं और नाटकों में इसके प्रयोग को ध्यान में रखते हैं। लेकिन कवित्त की एक विशेषता यहाँ और रेखांकित है : उसका गेय और पाठ्य दोनों होना। कवित्त के इस तत्व को लेकर किसी प्रकार की आम सहमति संभव न थी और न है। निराला के समय में ही पंत ने यह विचार रखा था कि मुक्तछंद मात्रिक छंद के आधार पर सफल हो सकता है।

> ''अन्य छंदों की तरह मुक्तकाव्य भी हिंदी में ह्रस्व दीर्घ संगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छंद का राग भाषा के राग पर निर्भर करता है, दोनों में स्वरैक्य होना चाहिए।''
>
> *('पल्लव' की भूमिका)*

निराला कवित्त को हिंदी कविता के लिए सहज मानते हैं, मगर पंत के अनुसार मात्रिक छंदों का राग हिंदी भाषा के राग के अनुकूल रहेगा। दोनों कवि भाषा की प्रकृति के अनुकूल कविता की सहजता के लिए अलग-अलग छंदों के आधार तलाश रहे थे। लेकिन पंत के विचारों के प्रसंग में कोई भी यह प्रश्न उठा सकता है कि मात्राएँ होने पर मुक्तकाव्य कितना मुक्त हो सकेगा। पंत मुक्तकाव्य में स्वर प्रधानता को महत्व देते हैं। निराला ने व्यंजनों की प्रधानता को महत्व दिया। निराला ने इस अर्थ में पंत का प्रतिवाद किया।

> ''पंत जी ने जो लिखा है कि स्वछंद छंद (मुक्त काव्य) ह्रस्व दीर्घ मात्रिक संगीत पर ही चल सकता है, यह एक बहुत बड़ा भ्रम है। स्वछंद छंद में 'आर्ट ऑफ म्यूजिक' नहीं मिल सकता, वहाँ है 'आर्ट ऑफ रीडिंग।' वह स्वर प्रधान नहीं व्यंजन प्रधान है। वह कतिवा की स्त्री सुकुमारता नहीं, पुरुष गर्व है। उसका सौंदर्य गाने में नहीं, वार्तालाप करने में है। उसकी सृष्टि कवित्त छंद से हुई है।''

पंत जी मुक्तछंद के संगीत के अनुकूल होने को ठीक मानते हैं। वे भाषा के नैसर्गिक संगीत को महत्व देते हैं। कारण यह है कि भाषा उच्चारण और संगीत से छंद का घनिष्ठ सम्बन्ध है। महादेवी वर्मा के भी विचार कुछ इसी प्रकार के थे।

Untitled-1 23 7/23/2010, 1:32 PM

''छंद तो भाषा के सौंदर्य की सीमाएँ हैं। अतः भाषा विशेष से भिन्न करके उनका मूल्यांकन असंभव हो जाता है। वे प्रायः दूसरी भाषा की सुडौलता को सब ओर से स्पर्श नहीं कर पाते। इसी से तो उसे अपने बंधनों के अनुरूप काट-छाँट कर बेडौल कर देते हैं या अपनी निश्चित सीमा रखाओं को कहीं दूर तक फैलाकर और कहीं सकीर्ण कर अपने नाद सौंदर्य सम्बन्धी लक्ष्य से ही दूर पहुँच जाते हैं।

(साहित्यकार की आस्था)

ध्यान दिया जाय तो यहाँ मुक्तछंद के प्रति छंदबद्ध कविता जैसा ही व्यवहार किया गया है। दोनों को संगीत के धरातल पर देखा गया है। जबकि मुक्तछंद में नये प्रयोगों की अपरिमित संभावनाएँ बनती हैं। निराला ने मुक्तछंद की संभावनाओं को आगे बढ़ाते हुए वार्तालाप तक पहुँचाया जो कविता के छायावाद परिप्रेक्ष्य में नई बात थी। मगर दोनों कवियों, पंत और निराला, की अभिरुचियों को देखें तो उनके विचार दोनों के अलग-अलग कवि स्वभावों द्वारा आकारित होते हैं। पंत अपने स्वभाव की सुकोमलता के चलते स्वरों को महत्व देते हैं जबकि निराला व्यंजनों को। इसी प्रकार मुक्तछंद के आधार के रूप में मात्रिक और वर्णिक छंदों को अलग-अलग कारणों से इन कवियों ने महत्व दिया। पंत मात्रिक छंदों को मुक्तछंद के लिए आधार इसलिए मानते हैं कि स्वर और व्यंजन के उतार चढ़ाव में पंक्तियाँ लयबद्ध होती हैं। निराला के लिए कविता का प्रवाह वर्णिक छंदों में अधिक घटित होता लगता है। यहाँ भी निराला के परुष चुनाव रेखांकित किये जा सकते हैं। दूसरी तरफ पंत जी का स्वभाव और अभिरुचि उन्हें लयबद्धता की ओर ले जाता है।

''वर्णवृत्तों की नहरों में उसकी (हिंदी कविता के संगीत की) धारा अपना चंचल नृत्य, अपनी नैसर्गिक मुखरता, कलकल छलछल, अपना क्रीड़ा कौतुक कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती है।''

पंत जी के लिए कविता का चंचल नृत्य, नैसर्गिक मुखरता कलकल छलछल, अपना क्रीड़ा कौतुक कटाक्ष महत्वपूर्ण है। ये सारे तत्व मुक्तछंद में आते हैं। मगर वह इसके अलावा भी बहुत कुछ है। गेयता और लय की परिकल्पना तो ठीक थी। पर यह सब तो छायावाद और उससे पहले की हिंदी छंदबद्ध कविता में पहले से उपस्थित था। इसलिए मुक्तछंद के परिप्रेक्ष्य में निराला के अवधारणात्मक संकेत पंत की तुलना में ऐतिहासिक महत्व के सिद्ध होते हैं।

इस दृष्टि से विचार करने पर पंत के मुक्तछंद सम्बन्धी विचार एकांगी लगेंगे। उनका यह कहना कि हिंदी संगीत का मूलाधार स्वर हैं, व्यंजन नहीं अपने में अधूरा है। उनकी इस तरह की चर्चा से ऐसा लगता है कि क्लासिकी संगीत की बात कर रहे हैं, हिंदी कविता की नहीं। कविता और संगीत में परम्परा सम्बंध होते हुए भी दोनों एक जैसी कलाएँ नहीं हैं। अरस्तू ने 'पोयटिक्स' के प्रारम्भ में ही संगीत और कविता के बीच के मूलभूत अंतर को दिखलाया था। संगीत ध्वनियों के माध्यम से किया गया अनुकरण है तो कविता शब्दों द्वारा (the art that

Untitled-1 24 7/23/2010, 1:32 PM

uses only speech) इस अंतर में ही दोनों कलाओं की अलग-अलग अस्मिता निहित है। क्लासिकी उचाइयों पर संगीत को शब्दों को जरूरत नहीं। इस सूत्र का विपर्यय भी उतना ही सही है। यह एक असंदिग्ध तथ्य है कि कविता की गेयता के लिये स्वर का महत्व है। लेकिन काव्य में विराट और उदात्त तत्वों की अभिव्यक्ति स्वरों के द्वारा ही संभव नहीं। 'राम की शक्तिपूजा' जैसी कविताएँ इस बात का ज्वलंत उदाहरण हैं कि कविता के छंदबद्ध संगीत में भी स्वर और व्यंजन दोनों का अपना महत्व होता है। सिर्फ स्वरों से संगीत का काम भले ही चल जाय, साहित्य का काम नहीं चल सकता। यहाँ स्वरों को प्रमुखता नहीं अपितु स्वर और व्यंजन के सामन्जस्य की आवश्यकता होती है।

मुक्तछंद के लिए वर्ण का महत्व इसलिए बढ़ जाता है कि यह पंक्तियों में यति विराम के सौंदर्य को बढ़ा देता है और उसे विशिष्ट प्रभाव का परिचालक बना देता है। वह तोड़ती पत्थर जैसे मुक्तछंद में सौंदर्य को हम वर्णों के यति विरामों में देख सकते हैं जहाँ प्रभावोत्पादकता व्यंजनों पर, या कहें वर्णों पर निर्भर करती है :

''वह तोड़ती पत्थर!
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर-
वह तोड़ती पत्थर।''

इस कविता में व्यंजनों का सौंदर्य बहुत स्पष्टतः परिलक्षित होता है और यह कविता की प्रभावोत्पादकता को बढ़ा देता है। यह नहीं कि यहाँ स्वरों का महत्व नहीं, मगर परुषों व्यंजनों के इस्तेमाल से कविता मानों हमारे अंतस्थल पर प्रहार कर रही हो। कविता में सामान्य जीवन में श्रम की विकट स्थिति को प्रकट करने वाली यह कविता स्वरों के नहीं। अपितु व्यंजनों के प्रधान प्रयोग के चलते गहरा प्रभाव छोड़ती है। यहाँ निराला ने पिच को ज्यादा महत्व दिया है।

निराला ने भले ही मुक्तछंद के लिए कवित्त को और सवैया को आधार माना हो, सच्चाई यह है कि उन्होंने व्यवहार में मुक्तछंद को इन वर्णिक छंदों की सीमाओं से मुक्त रखा/किया। पंत ने सवैया या कवित्त में उपस्थित मोनोटोनी की चर्चा करते हुए लिखा था,

'सवैया तथा कवित्त छंद मुझे हिंदी कविता के लिए अधिक उपयुक्त नहीं जान पड़ते। सवैया में एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से उसमें एक प्रकार की जड़ता, एक स्वरता 'मोनोटोनी आ जाती है।''

पंत जी की यह टिप्पणी कोई गलत नहीं क्योंकि परम्परागत सवैया अथवा कवित्त में मोनोटोनी के ये तत्व सुनने में ही जाहिर हो जाते हैं। सगण के उतार चढ़ाव कुछ इतने त्वरित होते हैं कि रुककर सुनने की कोई गुंजाइश नहीं बचती। यहाँ पंत की व्यक्तिगत अभिरुचि भी काम करती है जिसे ब्रजभाषा की कविता से खास लगाव नहीं था। इस मामले में पंत जी की स्वरप्रियता भी एक आग्रह का काम करती है। लेकिन पंत की सवैया और कवित्त में बसने वाली मोनोटोनी की चर्चा में दम है। बल्कि आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि इस तरह की मोनोटोनी, कविता में कृत्रिमता पैदा करती है जो संवेदनशील पाठकों को खिन्न कर सकती है। पंत जी इस प्रकार की अस्वाभाविकता के विरोधी थे।

Untitled-1 25 7/23/2010, 1:32 PM

दूसरी तरफ निराला वर्णों के मूवमेंट को महत्व देने के कारण कवित्त और सवैया को मुक्तछंद का आधार मानते हैं। सवैया और कवित्त की मोनोटोनी से उन्होंने मुक्तछंद को व्यवहारिक धरातल पर मुक्ति दिलायी। इस में निराला की कविता सामर्थ्य की महती भूमिका होती है। निराला की मुक्तछंद कविता प्रत्याशित सगणों की पुनरावृत्ति के स्थान पर स्वतंत्र आवृत्तियाँ प्रदर्शित करती है।

''देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा छिन्नतार,
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे इस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं''

कवित्त और सवैया से पंत जी को यह भी शिकायत थी कि वहाँ मात्राओं के उच्चारण का अवकाश नहीं मिलता। यह बात भी गलत न थी।

'हिंदी का स्वाभाविक संगीत ह्रस्व दीर्घ मात्राओं को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा समय देता है। मात्रिक छंदबद्ध प्रत्येक लघुगुरु अक्षर को, उच्चारण करने में जितना काल तथा विस्तार मिलता है उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणतः मिलता है।''

('पल्लव' की भूमिका)

यहाँ पंत हिंदी के स्वाभाविक संगीत की चर्चा करते हुए यह भी बताते हैं कि कवित्त छंद हिंदी के इस स्वर और लिपि के सामन्जस्य को छीन लेता है। बात ठीक है। लेकिन मुक्त काव्य कवित्त का अनुकरण होगा तभी यह कमी आयेगी। निराला सिर्फ प्रवाह की बात को सवैया अथवा कवित्त से ग्रहण करते हैं, वर्णिकता को ही ग्रहण करते हैं। उच्चारण काल और विस्तार वाले मामले में वे कवित्त और सवैया की सारी कमियों को पीछे छोड़कर अद्‌भुत सर्जनात्मक क्षमता का परिचय देते हैं।

छायावादी मुक्तछंद विमर्श में निराला और पंत के बीच हुए विवाद में निराला ने पंत के स्वभाव को ही उनके कवित्त सम्बन्धी आग्रह का कारण माना है।

''उनकी कविता में फीमेल ग्रेस-स्त्रीत्व के चिन्ह - अधिक होने के कारण उनका स्त्रीत्व कवित्त जैसे पुरुषत्व प्रधान काव्य के समझने में बाधक हुआ है। रही संगीत की बात, सो सगीत में भी स्त्री पुरुष का भेद हुआ करता है। राग और रागिनियों के नाम ही इनके उदाहरण हैं।''

(पंत और पल्लव)

अक्सर छायावादी कविता पर अंग्रेजी और बंगला के प्रभाव की चर्चा की जाती है। निराला भी पंत की कविता पर बंगला और अंग्रेजी कविता के प्रभाव का आक्षेप भी लगाते हैं।

Untitled-1 26 7/23/2010, 1:32 PM

मगर वास्तव में निराला और पंत दोनों मुक्तछंद की संकल्पना को हिंदी की जातीय परम्परा में ही तलाशने का प्रयास करते हैं। निराला कवित्त को हिंदी का जातीय छंद मानकर उसके प्रवाह को महत्व देते हैं। दूसरी ओर पंत ने बंगला और अंग्रेजी छंदों के हिंदी में प्रयोग को संदेह की दृष्टि से देखा है। पंत और निराला की आपसी नोक-झोंक के बाद भी यह सच है कि दोनों कवि कविता में एक बिल्कुल ही नयी जमीन की तलाश में थे। निराला ने तो अपने विरोधियों का विशेष ख्याल रखते हुए अपनी विशिष्ट शैली में घोषणा ही कर डाली थी।

> ''मुक्त काव्य कभी साहित्य के लिए अनर्थकारी नहीं होता, किन्तु उससे साहित्य में एक तरह की स्वाधीन चेतना फैलती है, जो साहित्य के कल्याण की ही मूल होती है।
>
> *('परिमल' की भूमिका)*

(7)

कविता में सहजता और स्वाभाविकता की तलाश किस प्रकार अलग-अलग दिशाओं में की जाती है, छायावादी समय इसका एक रोचक उदाहरण है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, सुमित्रानन्दन पंत और निराला तीनों कविता में स्वाभाविकता की तलाश में निकलकर विभिन्न दिशाओं में जाते हैं। यहाँ ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तीनों व्यक्तित्वों की काव्यभाषा और छंद सम्बन्धी बेचैनी साफ परिलक्षित होती है। तीनों कविता के लिए हिंदी खड़ी बोली के रास्ते तलाश रहे थे और इस मार्ग में उन्हें मौलिकता की दरकार थी। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'नये-नये छंदों' को स्वीकृति तो प्रदान करते हैं मगर यह स्वीकृति उनकी अभिरुचि की सीमाबद्धता के कारण बहुत आगे तक नहीं जा पाती। इसी अभिरुचि के ही चलते वे मुक्तछंद को वह महत्व नहीं दे पाते जो उस युग में दिया जाना चाहिए था। वे उल्टे मुक्तछंद पर प्रहार ही करते हैं। कविता के इस सहज और स्वाभाविक मार्ग की संभावनाएँ हिंदी साहित्य के सबसे महत्वपूर्ण आलोचक द्वारा अनदेखी ही रह जाती हैं।

पंत और निराला के बीच कविता और कविता सम्बंधी विचारों की एक विस्तृत साझा जमीन है जो अक्सर कवियों की तुलना करने की हमारी प्रवृत्ति के चलते दब जाती है। 'पल्लव' की भूमिका को लेकर निराला और पंत की बहस ने इस साझा जमीन को अलक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। 'परिमल' और 'पल्लव' की भूमिकाओं को एक साथ रखकर पढ़ने पर यह साझी जमीन साफ दिखायी देने लगती है। कविता में सहज और स्वाभाविक मार्ग की तलाश के दोनों यात्री अलग-अलग दिशाओं में जाते हैं। यहाँ पर भी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में क्रान्तिकारी होते हुए भी व्यक्तिगत अभिरुचियों का टकराव सामने आता है जो दोनों कवियों को अलग-अलग दिशाओं में ले जाता है। पंत के लिए स्वछंद छंद का उतना विस्तृत अर्थ नहीं है जितना कि निराला के लिए मुक्तछंद का। निराला अपनी स्वतंत्र चेतना के चलते हिंदी कविता

Untitled-1 27 7/23/2010, 1:32 PM

के परम्परागत संगीत से संतुष्ट नहीं होते। उन्हें हिंदी गवैयों का सम पर आना लकड़ी का गठ्ठर फेंक कर निश्चिंत हो जाने जैसा है। वे लिखते हैं कि 'हिंदी खड़ी बोली की संस्कृति जब तक संसार की अच्छी-अच्छी सौंदर्य-भावनाओं से युक्त न होगी, वह समर्थ न होगी।' यहाँ हम निराला और आचार्य शुक्ल के वैश्विकबोध के अंतर को साफ देख सकते हैं। यही वैश्विकबोध निराला के साहित्य में प्रतिफलित हुआ था जिसका एक रूप मुक्तछंद था। साहित्य के समझदारों के अनुसार निराला के इन नये-नवेले क्रियाकलापों से 'हिंदी साहित्य और हिंदू संस्कृति को गहरा धक्का पहुँचा।'

आज जब हम 21वीं सदी के पहले दशक में खड़े होकर हिंदी कविता की परम्परा पर दृष्टिपात कर रहे हैं तो निराला के परम्पराबोध को अधिक समीचीन और प्रासंगिक पाते हैं। नयी कविता के दौर में हिंदी कविता ने एक वैश्विक आधुनिक स्वरूप प्राप्त किया। प्रगतिशील कविता को भी अपनी परम्परा पूरी दूनिया से मिलती है। वास्तविकता तो यह है कि निराला के युग को हम उस सन्धिकाल के रूप में देख सकते हैं जब परम्परा के अर्थ बदल रहे थे और वह अपना विस्तार कर रही थी। निराला जिस प्रकार जातीय तत्वों से कविता को जोड़ते हुए उसे अपने वैश्विक बोध से संभावना विस्तृत कर रहे थे, उसे हम मुक्तिबोध, अज्ञेय, शमशेर और नागार्जुन जैसे कवियों में अलग-अलग दिशाओं में जाता पाते हैं।

हमारे समय की कविता निराला के समय की कविता से बहुत आगे जा चुकी है। जिस सहजता के लिए निराला ने लम्बा संघर्ष किया था, वह हमारे समय के कवियों को सहज ही अपनी कविता परम्परा से प्राप्य है। अब यदि कोई आलोचक पं. विद्यानिवास मिश्र की तरह यह कहे कि समकालीन कवियों को भाषा का सौष्ठव रीतिकालीन कवियों से प्राप्त हुआ है। तो हँसने के सिवा कुछ नहीं किया जा सकता। वास्तव में खड़ी बोली को एक सहज काव्य भाषा का रूप देने में छायावादी कवियों की महती भूमिका रही है। निराला ने तो भाषा और छंदों को सर्वाधिक भविष्योन्मुख किया। इसी कारण हमारे समय की कविता अपनी भाषा और अपने मुक्तछंद प्रयोग में निराला के अधिक करीब है।

मुक्तिकामना और जीवन प्रतिष्ठा वे दो बिन्दु हैं जहाँ से हम निराला की कविताओं को ठीक से समझ सकते हैं और उन्हें व्याख्यायित कर सकते हैं। यहीं से हम निराला की उस मनोभूमि को भी समझ सकते हैं जिसके चलते उन्होंने साहित्य जगत में मुक्तछंद की ओर कदम बढ़ाया था और हिंदी कविता के लिए एक नूतन मार्ग प्रशस्त किया था जो कि हमारे समय की कविता का प्रशस्त मार्ग है।

Untitled-1 28 7/23/2010, 1:32 PM

हिंदी उपन्यास : नारीवाद और नयी स्त्री–चेतना

पुष्पपाल सिंह

हिंदी कथा-साहित्य में एक नयी स्त्री-चेतना का उदय, जिसे एक प्रकार से विस्फोट भी कहा जा सकता है, प्रायः पिछले 15-20 वर्षों में परिलक्षित किया जा सकता है। इस कालावधि में उपन्यास का श्रेष्ठ न केवल महिला कथाकारों द्वारा रचा गया है, संख्या बहुलता में भी इन्हीं का पलड़ा भारी दिखता है। वैश्विक और भारतीय परिदृश्य में नारीवाद के पुनरुत्थान के साथ ही नारी की तेजस्वी कलम ने अपने 'स्व' को पूरी निजता ('इंडजुअल्टी') के साथ कथा-साहित्य, कहानी और उपन्यास दोनों, में अकुंठ-भाव से अभिव्यक्ति दी। रचनात्मक स्तर पर यह पितृ-सत्तात्मक समाज-व्यवस्था में अपने को एक नये सिरे से परिभाषित करने का प्रयत्न था/है। यद्यपि हिंदी उपन्यास के जन्म के समय से ही नारी-उत्थान को कथ्य बना कर 'देवरानी जेठानी की कहानी' (पं. गौरादत्त), 'भाग्यवती' (श्रद्धाराम फिल्लौरी) से ले कर प्रेमचंद और प्रेमचंद युग, प्रेमोचंदोत्तर युग और स्वातन्त्र्योत्तर समय में नारी के बदलते रूप को केन्द्रित कर उपन्यासों की रचना होती रही। समस्त भारतीय भाषाओं के कथा साहित्य में नारी की पारंपरिक छवि को बदलने के प्रयास निरंतर होते रहे। किंतु प्रायः बीसवीं शती में अर्द्ध-शती के समय तक अधिकांश पुरुष लेखकों द्वारा नारी को एक सुधारवादी समाज-व्यवस्था में उसका सम्मान-प्रद स्थान दिलाने, शिक्षा, सुशिक्षा के माध्यम से उसे घर से बाहर के समाज में गौरवपूर्ण रूप में प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न ही साहित्य में होते रहे। भारतीय भाषाओं में नारी को उसके अपने पूरे वजूद में, पूरी तरह से हाड़-माँस की नारी के रूप में प्रस्तुत करने का प्रथम विस्फोटक प्रयत्न इस्मत चुगताई की 'लिहाफ' कहानी ने किया जिसके प्रकाशन ने साहित्य की दुनिया में एक जलजला-सा ला दिया, एक थर्राहट जिसकी धमक दूर तक और देर तक सुनी जाती रही। फिर हिंदी में नद-नदियां-सी खुली-डुली मद-भरी 'मित्रों मरजानी' (कृष्णा सोबती) का जन्म हुआ जिसने पारंपरिकता और मर्यादा की चूनर को तार-तार कर साहित्य में नयी नैतिकता का सूत्रपात किया। वह नैतिकता थी स्त्री को वस्तु, पदार्थ से व्यक्ति में परिवर्तित करने की। अंग्रेजी में कमला

Untitled-1 29 7/23/2010, 1:32 PM

दास ने 'मेरी कहानी' और पंजाबी में अमृता प्रीतम ने अपनी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' लिख कर नारी-लेखन के सामने एक नयी दिशा ही खोल दी। हिंदी में महिला कथाकारों द्वारा आत्मकथा लिखने का दौर तो काफी बाद में आया किंतु इससे पूर्व उन्होंने अपनी औपन्यासिक कृतियों द्वारा हिंदी उपन्यास के चरित्र को भारी बदलाव दिया। उसने अपना मनोसंसार पूरी स्पष्टता, ईमानदारी और सारी भीतियों, निषेधों-वर्जनाओं से मुक्त हो कर पूरे खाँटी रूप में अभिव्यक्त किया। इस लेखन ने उसे पुरुष-सत्ता द्वारा दिए गए 'नाच मेरी गुड़िया' रूप से अलग व्यक्तित्व प्रदान किया। ऐसा प्रयत्न केवल महिला कथाकारों द्वारा ही नहीं किया गया, जैनेन्द्र, यशपाल, भगवतीचरण वर्मा, प्रभृति लेखक उसकी पीठिका पहले ही प्रस्तुत कर चुके थे।

इस कालावधि में रचित महिला कथाकारों के उपन्यास इस 'मिथ' को बुरी तरह तोड़ते हैं कि महिला-लेखन एक सीमित अनुभव-वृत्त का पारंपरिक लेखन है, या उसकी अपनी पृथक कोटि है। यदि इन चित्रित उपन्यासों में घर-परिवार का चिर परिचित अनुभव-जगत चित्रित भी किया गया है तो उसके सरोकार पूरी तरह दूसरे हैं। यहाँ उसकी चिंता के केन्द्र में वह स्त्री है जो युगों से पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में असह्य कष्ट और दुर्वह जीवन भोग रही है। यह बात भी उनकी चिंता के केन्द्र में है कि आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर अपनी संपूर्ण शक्ति में भी क्या स्त्री पुरुष वर्चस्ववादी समाज के अन्यायों-अत्याचारों से मुक्त हो पायी? क्या दहेज-प्रताड़ना से पीड़ित बड़े-बड़े (आर्थिक समृद्धि की दृष्टि से) परिवार, उद्योगपति परिवारों, छोटे-से-छोटे श्रमिक, कामगार और मध्यवित्त परिवारों में भी बहुओं द्वारा आत्म-हत्या का सिलसिला रुक पाया है? ऐसे अनेक स्त्री-प्रश्नों से जूझती अपनी स्वतंत्र अस्मिता की तलाश, कभी स्वाभाविक रूप में तो कभी स्त्रीवादी विमर्श में, करती नारी एक नयी चेतना से स्त्री-रचित उपन्यास साहित्य में अपनी उपस्थिति पाती है। एक जीवित और सक्रिय सामाजिक इकाई, जंनसंख्या में आधी दुनिया का प्रतिनिधित्व करती यह नारी आज अपने हर दुःख-दर्द, संताप और पीड़ा, अपनी दैहिक आवश्यकताओं का अकुण्ठ भाव से स्वीकार और निज स्थिति का ईमानदार ब्योरा देने का साहस रखती हुई कथा साहित्य, उपन्यास साहित्य, में अपनी गौरवपूर्ण उपस्थिति दर्ज कराती है। आज शिक्षा, उच्च शिक्षा के कारण उसका मानसिक क्षितिज इतना विस्तृत है कि वह भली भाँति जानती-समझती है कि वैश्विक परिदृश्य में स्त्रीवादी विमर्श किस रूप में आगे बढ़ रहा है। 'फेमिनिज़्म'-स्त्रीवाद की सिमोन द' बोउवार (बोवा) से ले कर केट मिलेट, मार्गरिट मीड, आदि, प्रख्यात लेखिकाओं के लेखन से उसका पूरा परिचय है। अपने यहाँ की नारीवादी संस्थाओं, लेखिकाओं तथा सक्रिय कार्यकर्त्ताओं के कृतित्व से हिंदी लेखिकाओं का ज्ञान-क्षितिज और सूचना-संसार विस्तृत हुआ है जिसके प्रकाश में वह अपनी घर-बाहर की समस्त समस्याओं को देखती-परखती है।

हिंदी उपन्यास में स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व, अस्मिता की तलाश दो रूपों में प्राप्त होती है। एक दृष्टि तो वह है जहाँ स्त्रीवादी आंदोलनों की प्रथम लहर से रूप में स्त्री को पुरुष के प्रति विद्रोहिणी बना कर उसके प्रतिपक्ष के रूप में खड़ा कर दिया गया। पुरुष के प्रति अपार घृणा और विद्रोह का एक विस्फोट-सा दिखाई देता है। दूसरी दृष्टि वह है जहाँ बिना किसी मुखर

Untitled-1 30 7/23/2010, 1:32 PM

स्त्रीवादी सोच और घोषित नारों के स्त्री-पीड़ा का सूक्ष्म चित्रण किया गया है, साथ ही यह विचार भी प्रस्तुत हुआ है कि पुरुष के विरुद्ध जा कर ही स्त्री-स्वातंत्र्य की अवधारणा पूरी नहीं होती, अपनी स्वतंत्रता और अधिकारों की माँग करते हुए पुरुष के साथ समादृत समंजन (रेस्पेक्टेड एडजस्टमेंट) किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है। कहने की आवश्यता नहीं कि दूसरा मार्ग ही श्रेयस्कर और प्रीतिकर है, इसलिए वे ही उपन्यास अधिक लोकप्रिय हुए और महत्ता प्राप्त कर सके जिनमें स्त्री और पुरुष दोनों को समाज, परिवार की आवश्यक इकाई मान उनमें समंजन स्थापित करने की चेष्टा की गयी।

यद्यपि हिंदी उपन्यास की नारीवादी सोच और स्त्री की नयी चेतना के निर्माण और चित्रण में महिला कथाकारों की कृतियों का ही योगदान अधिक है किंतु यह भी एक न भूलने वाला तथ्य है कि नारी-स्वातंत्र्य की नये युग में नयी परिभाषा गढ़ने का सर्वप्रथम श्रेय सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' को है। शाहजहाँपुर जैसे छोटे-से शहर के पारंपरिक परिवार की वशिष्ठ कुलोत्पन्न (रूढ़ियों से ग्रस्त बंद ब्राह्मण-समाज की), कन्या सिलबिल का वर्षा वशिष्ठ के रूप में रूपांतरण, शाहजहाँपुर से शाहजहानाबाद (दिल्ली) के बहावलपुर हाउस, जहाँ राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय स्थित है और उसके बाद रंगमंच की दुनिया से ऊपर उठ कर बम्बई के फिल्म जगत तक की सुदीर्घ यात्रा वर्षा वशिष्ठ के रूप में नये नारीत्व की जय-यात्रा है। वर्षा वशिष्ठ अपने छोटे-से नगर से आ कर अपनी पारंपरिकता को तो तोड़ती ही है, विभिन्न रूपों में स्त्रीत्व के लिए गढ़े गए पुरातन आदर्शों को पूरी तरह अपनी मुक्ति का नवीन राजपथ तलाश लेती है। राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय उसकी प्रारंभिक संकोच-अर्गलाओं को तोड़ता है, मौलियर के रूपांतरित नाटक 'बेवफा दिलरुबा' में रेहाना के रूप में अपनी छोटी-सी भूमिका में वह शरीर के स्तर पर काफी खुलती है किंतु फिर भी राष्ट्रीय नाट्य-विद्यालय के निदेशक डॉ. अटल उसके 'किंचित् संकोच' को ले कर उस पर कुपित हो कहते हैं, ''तुम्हें अपने यौवन का कम एहसास है और उसके कलात्मक व्यवहार का और भी कम।... वे हीरे कौन से हैं, जिनका ज़िक्र इस सीन में होता है? तुम्हारी समस्या क्या है?'' वस्तुतः 'इस सीन में डॉ. अटल जिन 'हीरों' को इंगित करते हैं, वे उसके कुचाग्र हैं, दृश्य मे निसार इन्हें ही चुम्बित करने की इच्छा करता है। यद्यपि इस दृश्य का अभिनय करते हुए वर्षा ने अपनी ओर से कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी थी, उसका मंचन-दृश्य यह था, ''वर्षा ने अपनी समझ से चरित्र-निरूपण किया था।...'मेरे पास कुछ भी नहीं' के साथ इतराते हुए उसने अपने कंगन खनकाये थे। ''ऐसी भी क्या प्यास...'' कहते हुए अपने होंठों पर हथेली की ओट सहित पीछे हटी थी और ''मैं दुपट्टा हटा कर एक झलक दिखला भी दूँ'' के साथ उसने दुपट्टे से अपने को और अच्छी तरह ढक लिया था।'' किंतु फिर भी डा. अटल उसकी इस भूमिका पर यह टिप्पणी देते हैं, ''तुम चंद्रमुखी बनने की कोशिश करती हुई पारो लग रही हो - जबकि तुम्हें कॉक टीज़र बनना है।'' सारी सामाजिक रीतियों-भीतियों को धता बता कर वह हर्ष की मृत्यु के पश्चात् उसके बच्चे को जन्म देने और पालने का संकल्प लेती है। रंगमंच और सिनेमा की दुनिया में अपना व्यक्ति स्वातंत्र्य अर्जित करती है। 'सुंदर मुंबई हरित मुबंई' में आ कर तो वर्षा आकाशी ऊँचाइयों को छूने लगती

Untitled-1 31 7/23/2010, 1:32 PM

है। अकूत धन और संपत्ति पद्मश्री का सम्मान उसके जीवन में पूर्णता ला देते हैं। इस प्रकार नारी स्वातंत्र्य का एक अलग मानक और प्रारुप (मॉडल) 'मुझे चाँद चाहिए' के द्वारा प्रस्तुत हुआ।

सुरेन्द्र वर्मा के इस दिशा निर्देशक उपन्यास के पश्चात् महिला कथाकारों ने नारीवादी सोच के साथ अनेक औपन्यासिक कृतियों की रचना की, जिन्होंने बद्ध स्त्रीवादी विमर्श को यथावत् स्वीकृति नहीं भी दी, उन लेखिकाओं ने भी अपने समय की बदली हुई समाजार्थिक स्थितियों में स्त्री-प्रश्नों पर गंभीरता से विचार-विमर्श किया। न केवल उपन्यास-रचना में अपितु अपने वैचारिक लेखन में भी नारी स्वातन्त्र्य, परंपरागत पितृसत्तात्मक व्यवस्था में नारी के नये वजूद, उसके वैधानिक और पारिवारिक अधिकारों के रहते हुए भी वही 'ढाक के तीन पात' वाली स्थिति पर निरंतर विचार किया है। अपने उपन्यासों में अपनी पूरी बात अँटती न देख मृदुला गर्ग, मैत्रयी पुष्पा, चित्रा मृद्गल, अनामिका, क्षमा शर्मा, आदि कथाकारों तथा बंद दुर्ग द्वारों पर दस्तक देती कुछ कवयित्रियों ने भी अपनी टिप्पणियों, आलेखों के संग्रह प्रकाशित कराए, कुछ ने एकाधिक भी और उनके माध्यम से स्त्रीवादी विमर्श, स्त्री-प्रश्नों, को आगे बढ़ाया और उन पर सर्वथा एक नयी दृष्टि से विचार किया जिसके द्वारा नयी नारी चेतना का पूरा परिचय मिलता है। इन सब कृतियों को देख कर यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि अब नये युग की स्त्री ने अपनी बेचारगी को पूरी तरह तिलांजलि दे दी है, आज वह स्त्री-सशक्तीकरण ('वीमेन एंपावरमेंट) के समस्त प्रयत्नों से न केवल भली भाँति परिचित है अपितु प्रत्येक दृष्टि से उसमें अपनी सक्रिय भागीदारी निभाती है। उपन्यासों में भी रचनात्मक स्तर पर उसका यह प्रयत्न सदैव अपनी सार्थक प्रतीति कराता रहा है। कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी, उषा प्रियवंदा, आदि की पीढ़ी के पश्चात् मृदुला गर्ग ने अपने उपन्यासों में नारी स्वातन्त्र्य का अर्थ अपनी तरह से खोजा। लगभग तीस वर्ष पूर्व आए अपने उपन्यास 'चित्तकोबरा' (1979) में मृदुला गर्ग ने दाम्पत्य में तीसरे की उपस्थिति और स्वीकार तथा देह-तुष्टि के नए रति-अनुभवों के चित्रण द्वारा साहित्य-लेखन में एक हलचल-सी मचा कर रख दी थी। 'अनित्य' (1980) तथा 'मैं और मैं' (1984) में भी वे स्त्री के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के प्रश्नों से रू-ब-रू होती हैं किंतु स्त्रीवादी विमर्श की दृष्टि से इस कालावधि में प्रकाशित 'कठ गुलाब' (1996) विशेष रूप से महत्पूर्ण है। यहाँ बारम्बार 'स्त्रीवादी' (फेमिनिज़्म) तर्कों से स्त्री-प्रश्नों को उठाते स्त्री-पात्र उपस्थित होते हैं और वे इतने मुखर ('वोकल') रूप में अपने विचार रखती हैं कि उपन्यास का कथा-रस भी क्षरित होता है और उसकी प्रभावान्विति भी न्यून हो जाती है। इस सबके बावजूद उपन्यास में आए स्मिता, मारियान, नर्मदा तथा असीमा, स्त्री चरित्र और एक पुरुष चरित्र विपिन अनेक स्त्री सम्बंधी प्रश्नों पर विमर्श रच उपन्यासकार की स्त्रीवादी ('फेमिनिस्टिक') दृष्टि का परिचय देते हैं। वस्तुतः ये सब पात्र प्रायः स्त्री को पुरुष के विरुद्ध प्रतिपक्ष में ही खड़ा कर देखने में ही स्त्री की स्वतंत्र अस्मिता का अर्थ खोजते हैं। विदेश के आजाद समाज में 'सेक्स के अमर्यादित आनंद' पर भी बात की गई है- यह वह समाज है जहाँ 'सेक्स के बाद खरीददारी यहाँ के बाशिंदों का दूसरा व्यसन या वासना है।'' उपन्यास आगे चलकर स्त्री-पुरुष की

Untitled-1 32 7/23/2010, 1:32 PM

सामाजिक स्थिति की तुलनात्मक समीक्षा करता है, औरत और मर्द के रिश्तों के सत्य का संधान विविध रूपों में करने की चेष्टा विभिन्न प्रसंगों के माध्यम से बार-बार की जाती है। लेखिका ने अपनी पात्र-सृष्टि के माध्यम से उन परंपराओं पर विचार किया है जिन्होंने स्त्री को पूरी तरह दब्बू बना कर सजने वाली गुड़िया का रूप दे दिया और मातृत्व के गौरव से मंडित कर दिया किंतु इसके पीछे पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था की मंशा क्या थी, उस पर एक सोच यहाँ दी गयी है। कहना न होगा कि मातृत्व के प्रति यह दृष्टिकोण स्त्रीवाद (फेमिनिज़्म) के पहले दौर की 'झंडा उठाओ' प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप ही विकसित हुआ है। स्त्रीवाद की यही सोच नारी को पुरुष का प्रतिपक्ष बना कर खड़ा कर देती है, अन्यथा स्त्री को मातृत्व के गौरव से वंचित नहीं किया जा सकता, न ही स्त्री स्वयं इस स्त्रीवादों, बहसों, बहकों में पड़ कर अपना मातृत्व अधिकार तथा गौरव खोना चाहेगी। औरत के समस्त अस्तित्व को मात्र एक विडम्बना मान कर जीवन नहीं जिया जा सकता और न ही ''औरत तेरा नाम विडम्बना है'', औरत होना विडम्बना को जन्म देता है, उसके मन में बजा। नहीं औरत होना एक विडम्बना है। नहीं, औरत खुद एक विडम्बना है। जहाँ औरत होगी, विडम्बना जन्म लेगी। औरत, तेरा नाम विडम्बना है।'' ऐसे कथन क्या स्त्री को कहीं पहुँचा सकते हैं, क्या इस सबसे स्त्री अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व अर्जित कर सकती है, जिसके समाधान और तलाश के लिए 'स्त्रीवाद' का झंडा खड़ा किया गया? मर्दों के खिलाफ यही तेवर 'कठगुलाब' की विभिन्न स्त्रियों द्वारा निरन्तर अपनाया गया है। स्त्रीवादी आंदोलन की समस्त मान्यताओं, अवधारणाओं और क्रियाकलापों को अपने उपन्यास में किसी न किसी रूप में जबरदस्ती नियोजित कर उन पर टिप्पणी देने की चेष्टा कर यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया गया है कि लेखिक स्त्रीवाद और स्त्रीवादी आंदोलन की प्रत्येक धारणा और गतिविधि से परिचित है। 'कोई भी मर्द स्पर्म से ज्यादा नहीं', 'पोस्ट कोयटल टेस्ट', 'अव्यूलेशन टेस्ट' आदि की 'नवीनतम बातें' कर उपन्यासकार 'नारी उत्थान' की भूमंडलीय भावना से अपना पूर्ण तादात्म्य दर्शाते हुए एक स्त्रीवादी सक्रिय कार्यकर्ता' ('फेमिनिस्ट एक्टिविस्ट') के रूप में अपने को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती है और इस क्रम में उपन्यास की सर्जनात्मकता क्षत हुई है, वैचारिकता को यहाँ मुखर प्राधान्य मिला है।

अपने उपन्यासों में स्त्रीवाद (फ़ेमिनिज़्म) का प्रखर स्वर उठाने और स्त्री-पक्ष को धारदार प्रस्तुति और पुरजोर समर्थन करने के लिए प्रभा खेतान के उपन्यासों का महत् योगदान है। प्रभा खेतान के उपन्यासों में स्त्रीवाद मृदुला गर्ग के 'कठगुलाब' के समान आंदोलनवादी रूप में नहीं आता है। प्रभा खेतान के व्यक्तित्व की बुनावट इस रूप में हुई कि वे और उनका लेखन स्त्रीवादी ('फेमिनिज़्म') की अवधारणा को नारे और कागज़ी. रूप में स्वीकार नहीं करता। उनका स्त्री पक्ष में चिंतन बहुत व्यावहारिक धरातल पर अवथित है, बिना किसी आंदोलनात्मक नारेबाजी और पुरुष को गलियाने के मंतव्यों से बहुत दूर। वे न केवल सार्त्र-दर्शन और जीवन-पद्धति से प्रभावित हैं, अपितु 'सार्त्र का अस्तित्ववाद' (1984) तथा 'शब्दों का मसीहा : सार्त्र' (1985) जैसी पुस्तकों का प्रणयन करती हैं, उनकी जीवन-संगिनी सीमेन द' बोउवार की विश्व प्रसिद्ध कृति 'द सेकेंड सेक्स' का 'स्त्री-उपेक्षिता' शीर्षक से रूपांतरण करती हैं तथा उन

Untitled-1 33 7/23/2010, 1:32 PM

दोनों के ही समान अविवाहित रूप में जीवन-भर अपने प्रेम को जीती हैं। परंपराबद्ध, बंद मारवाड़ी समाज में उपेक्षिता लड़की का दुर्भाग्य पा कर अपने संसाधनों और पुरुषार्थ से एक सफल और अग्रणी उद्योगपति की ऊँचाइयों तक पहूँचा उनका व्यक्तित्व स्वयं नारी सशक्तीकरण (वीमेन एंपावरमेंट) का एक अप्रतिम उदाहरण बनता है। विश्व-भर में घूमती हुई वे नारी-स्थितियों का प्रत्यक्ष अनुभव और अध्ययन करती हैं विशेषतः दक्षिणी एशिया की कामगार स्त्रियों का अध्ययन कर उन्होंने पर्याप्त वैचारिक लेखन किया है। इस पृष्ठभूमि के साथ उनके 'आओ पेपे घर चलें', 'छिन्नमस्ता' तथा 'पीली आँधी' उपन्यासों के आधार पर नयी नारी चेतना का अध्ययन किया जा सकता है। छिन्नमस्ता' में प्रभा खेतान स्त्री की पक्षधरता में बहुत बड़ा साहसिक पग उठाते हुए भाई द्वारा सगी बहन से शरीर भोग, लगभग बलात्कार ही, को तो सामने लाती ही हैं, क्योंकि वह स्वयं उनके साथ घटित, निरंतर होने वाला अत्याचार है, बहुत सूक्ष्मता एवं गहरी संवेदना से उन स्थितियों को विश्लेषित करती हैं जिनके कारण स्त्री को परिवार तथा समाज में दोयम दर्जे की स्थिति भोगनी पड़ती है। जिस बड़े घर की बेटी होने का गौरव—भाव 'छिन्नमस्ता' की नायिका में होना चाहिए था, वह उसमें नहीं था क्योंकि उस परिवार में लड़के-लड़कियों के पालन-पोषण में जो दोहरा व्यवहार किया जाता था, वह उसे असहनीय पीड़ा देता है। उस बड़े घर में लड़के-लड़की के बीच जो अन्तर किया जाता था, उसको अभिव्यक्ति दी गयी है। 'छिन्नमस्ता' की प्रिया नारी का नया वजूद और नयी चेतना ले कर उपस्थित होती है। 'पीली आँधी' में भी मारवाड़ी समाज की राजस्थान के रेगिस्तानों से कलकत्ता के बड़ा बाजार और फिर बड़ा बाजार से पॉश कालोनियों तक की यात्रा के आख्यान के बीच नारी की विकास पाती नयी चेतना का परिचय अपने ढंग से देती है। वह उस बंद मारवाड़ी समाज में परंपरा और आधुनिकता के बीच झूलती नारी की कसमसाहट, सुप्त आकांक्षाओं का परिचय अपने कई पात्रों के माध्यम से देती है। प्रभा खेतान अपनी इस नयी सोच से स्त्री के प्रति युग-युग से होते चले आ रहे अत्याचारों-अनाचारों के विरुद्ध अपने पात्रों के माध्यम से विद्रोही स्वर तो उठाती हैं किंतु वे पुरुष के प्रति विद्रोह कर उसे प्रतिपक्ष के रूप में खड़ा नहीं करती हैं।

मैत्रेयी पुष्पा नारी चेतना की एक नयी धमक ले कर कथा जगत में अपनी उपस्थिति दर्ज कराती हैं। ग्रामीण जीवन परिवेश, बुंदेलखण्ड और ब्रज-क्षेत्र, के अपने खाँटी पात्रों के माध्यम से वहाँ करवट लेती नयी नारी-चेतना से वे जिस रूप में निरंतरता में नारीवाद (स्त्रीवाद) का पाठ बिना आंदोलनकारी स्वरों के अपने कथा-साहित्य में रचती हैं, वह बहुत प्रभावी रूप में स्त्री-पक्ष की बात कहता है। निश्चिततः वहाँ परंपरा से विद्रोह करते हुए स्त्री जो अपना स्वरूप ग्रहण करती है, वह उसके व्यक्ति-स्वातत्र्य की अपनी तलाश है। सारे सामाजिक सम्बन्धों की शुचिता को केवल नारी के दृष्टिकोण से देखना, प्रथम बार अपने देह-धर्म को अकुण्ठ रूप से स्वीकारना, गाँव-समाज में स्त्री का सामाजिक और आर्थिक रूप से एक दबंग शक्ति के रूप में अभ्युदय, वैधव्य की स्थिति में मातृत्व की साहसपूर्ण स्वीकृति, आदि को कथा-प्रसंगों के माध्यम से जिस रूप में मैत्रेयी ने अपने उपन्यासों में विन्यस्त किया है, उससे स्थापित नैतिकताओं की शृंखलाएँ तड़-तड़ा कर टूटती है। 'इदन्नमम्' की कुसुमा भाभी रिश्ते में पूज्य

Untitled-1 34 7/23/2010, 1:32 PM

अपने दाऊ जी से शरीर-सम्बंध स्थापित करती है। युग-युग से भारतीय समाज को आदर्शों और मर्यादा की डोरी से बाँधने वाले बाबा तुलसीदास की 'श्रीरामचरितमानस' प्रकाशमयी शुचिता की धारणा भी कुसुमा और दाऊ के मन के आवेगों को नहीं रोक पाती है—कुसुमा आसन पर बैठी रामायण बाँचती है—''अनुज वधु भगिनी सुत नारी। सुनि सठ कन्या ये चारी''—इन पंक्तियों को सुन कर ''कुसुमा और दाऊ जू ने साथ-साथ देखा परस्पर। देखते ही हड़बड़ा गया हो दाऊ जी का परम पौरुष! विचलित हो उठी कुसुमा के भीतर बसी परंपराओं में बँधी नारी।'' उसका ग्रामीण मन शास्त्र और मर्यादा को अपनी तरह से प्रश्नांकित कर पुरुष सत्तात्मक समाज को जिस रूप में चुनौती देता है वह सदियों से तरह-तरह के विधि-निषेधों को झेलती नारी का एक प्रकार से खुला विद्रोह है, ''बिन्नू हमें एक बात समझाओ, अरथाओं की ये रिस्ते-नाते, सम्बंध और मरजाद किसने बनाई? किसने सिरजी है बंधनों की रीत? जो नाम लेती हो उनने? मनु-व्यास ने? रिसियों-मुनियों ने? देवताओं ने कि राच्छसों ने?'' उपन्यास में स्थान-स्थान पर ऐसे प्रसंग आए हैं जब स्त्री पुरुष द्वारा नारी के लिए बनायी गयी व्यवस्था की थुक्का-फजीहत करती हुई, उसके प्रति खुला विद्रोह करती है। स्त्री का यह नव स्वातंत्र्य-बोध 'चाक' उपन्यास में और भी प्रखरता से अभिव्यक्ति पाता है। यहाँ उनके नारी पात्रों की विद्रोही मुद्रा और भी तेज़-तर्रार रूप में उभरती है। इसी पीठिका पर खड़े 'चाक' के सभी पात्र अपनी नयी गढ़ंत, निर्मिति पाते हैं। स्त्री-जीवन में पतिव्रत-धर्म को तोड़ने वाली औरत के लिए दण्डविधान के निर्धारित नियमों को रेशम बुरी तरह भंजित करती है। सास के इस तर्क पर कि 'रंडी, मेरे पूत की चिता तो सीरी हो जाने देती', रेशम का यह मुँहतोड़ उत्तर इस नऐ स्त्रीत्व से परिचय कराता है, ''अम्मा, तुम तो विरथा ही दाँत किटकिटा रही हो। तुम्हारे पूत की चिता ठंडी हो जाने से क्या मेरी देह की आग बुझ जाती? जीतों-मरतों का भेद भी भूल गई तुम! बेटा के संग मैं भी मरी मान ली?'' सास हुकुम कौर को उसके प्रश्नों के उत्तर रेशम जिस रूप में देती है, वह नारी का नया साहस है। जिन समाजों के ये पात्र हैं, उनमें सम्बंधों की शुचिता का ख्याल किए बिना ऐसे 'नाजायज़' सम्बंध चोरी-छिपे चले ही आ रहे थे किंतु इन सम्बंधों के औचित्य का विचार प्रथम बार यहीं होता है। रेशम सास को 'अपने चाल चलन की झंडी फहराने का हक़' नहीं देना चाहती क्योंकि वह जिस समाज का प्रतिनिधित्व कर रही है, उसमें पुरुष के लिए विधान दूसरा है, ''आज को तुम्हारा बेटा मेरी जगह होता तो पूछती कि तू किसके संग सोया था? अब उसकी बाँह गह ले। मेरे मरे पीछे तेरहीं तक भी सबर न करता और ले आता दूसरी। तुम खुश हो रही होतीं कि पूत की उजड़ी जिन्दगी बस गई। पर मेरा फजीता करने पर तुली हो।'' सास रेशम के इस व्यक्तित्व से हतप्रभ है जो ''लुगाई की जात हो कर मर्दों जैसा हौंसला जुटाना जुटा रही है।'' स्त्रीवादी जिस यौनिक स्वतंत्रता की बात करता है, मैत्रेयी के ये पात्र बिना किसी नारे के अपने इस मंतव्य को पूरा करते हैं। सारंग और श्रीधर, केलासी सिंह और कलावती चाची जैसे युग्मों के सम्बंध सारे विधि-निषेध, वर्जनाओं को धता बता कर अपने मन की करते हैं और इनमें वर्जनाओं को तोड़ने में पहल स्त्री ही करती दिखाई गई है। पहलवान केलासी सिंह की मालिश करती चाची कलावती 'पाप-पुन्य' की सारी स्थापित मान्यताओं की दीवारों को गिरा देती है। हिंदी कथा-साहित्य में यह नयी नारी का जन्म है। जिन जाति-समाजों का चित्रण मैत्रेयी कर रही है, उनमें

Untitled-1 35 7/23/2010, 1:32 PM

ये सब यौनाचार-प्रेमाचार रहे आए हैं किंतु मैत्रेयी साहसपूर्वक उसकी प्रथम प्रस्तुति यहाँ कर रही हैं। तीजों (सलूनों) के त्योहार पर जीजा-साली के बीच का यह संवाद, ''ओ जीजा, संग विदा करा ले चलो, देखूँ कितनी ताकत है? पानी माँग जाओगे।'' उन कामोन्मत्त अभिव्यक्ति-छटाओं को यहाँ पहली बार स्थान मिला है। लोकगीत अवश्य ऐसी व्यंजनाओं से भरे पड़े हैं जिसकी बानगी उपन्यास यत्र-तत्र देता चलता है, ''चिड़ी तोय चमड़िया भावे/ तेरे घर में सुंदर नार, बलम तोय परनारी भावे।'' अपनी सारी भीतियों और वर्जनाओं को ढाती सारंग जिस प्रकार गाँव की राजनीति में प्रवेश कर अपनी धाक जमाती है, वह नये युग की जाग्रत नारी की पूर्ण अवधारणा बन जाती है।[6] स्त्री-पक्ष के ऐसी ही प्रश्नों से मैत्रेयी अपने नवीनतम उपन्यास (अब तक) 'त्रिया-हठ' में जूझती हैं। मीरा और उर्वशी वर्जित सम्बंधों के क्षेत्र में देह की तुष्टि का परितृप्त और मुक्त अनुभव करती हैं—कोई पाप-बोध उन्हें नहीं सालता है।

चित्रा मृद्गल ने स्त्री-पक्ष में जो प्रश्न अपने 'आवां' में उठाए हैं, उनमें 'स्त्रीवाद' आंदोलनवादी दृष्टि का विरोध कर पश्चिम से आए नारीवाद को जस का तस स्वीकारने का तीव्र विरोधी स्वर है। वे नारी-स्वातंत्र्य की हामी हो कर भी पश्चात्य स्त्रीवाद की तरह पुरुष से 36 का आँकड़ा न रख कर भारतीय कौटुम्बिक प्रणाली के स्वस्थ रूप को सुरक्षित रखने की पक्षधर हैं। महिला उपन्यासकारों में चित्रा मृद्गल के यहाँ स्त्री-स्वातंत्र्य को ले कर कदाचित् सर्वाधिक स्वस्थ दृष्टि देखने को मिलती है, जहाँ स्त्री को उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व की निर्मिति करते भी देखा जा सकता है और साथ ही अपनी पारंपरिक पारिवारिक व्यवस्था में अपना गौरवपूर्ण स्थान पाते भी। वह स्त्री परंपरा और आधुनिकता का एक आदर्श प्रतिरूप (मॉडल) रचती हैं। इन विचारों की संवाहिका 'आवां' में नमिता और गौतम बनते हैं। स्त्रीवाद का झंडा उठा कर स्वच्छंदतावाद और उच्छृंखलता का जीवन जीती आधुनिकताओं का विरोध डंके की चोट इस रूप में करती है।, ''नारीवाद की आड़ में उद्दंडताओं को जीने वाली शिक्षित स्त्रियों को देश की खालिस देशी औरत से प्रेरणा ले कर कौटुम्बिक जीवन के क्षरण को रोकने की चेष्टा करनी चाहिए।'' इसी विचार-सूत्र की पीठिका पर 'आवां' का सारा स्त्री-विमर्श बड़ी कुशलता से खड़ा किया गया है। स्त्रीवाद के बढ़ते शोर में उनकी सबसे बड़ी चिंता भारतीय परिवार-व्यवस्था को बचाने की है। आज स्त्री-विमर्श का पाठ पढ़ती नारी मातृत्व से दूर भागना चाहती है किंतु वह भूल जाती है कि मातृत्व में ही उसकी शक्ति, गौरव और वास्तविक तोष है। जब नारी इस सत्य का साक्षात्कार कर लेगी कि 'उसका एकमात्र श्रेष्ठ स्वरूप जननी है—केवल जननी! माँ होना ही उसके स्त्रीत्व की सार्थकता है। अजेय शक्ति है और पुरुष आश्रय में ही उसकी संपूर्ण सुरक्षा! जिस क्षण महिलाएँ परम पुरातन आधुनिकता-बोध से साक्षात्कार कर लेंगी, समस्त विश्व समाज-विखंडन के त्रास से मुक्त हो, परस्पर पूरक व्यवस्था जिएगा।'' वे आज की इस 'विडम्बना' का जिसमें ''पारिवारिक जीवन में स्त्रियों ने मर्द को विपक्ष बना लिया'' पुरजोर विरोध विभिन्न कथा-प्रसंगों और पात्रों के माध्यम से उपन्यास में बार-बार करती है। उसके स्त्री-विमर्श की यही धुरी और आधार-पीठिका है। स्त्री-पुरुष की परस्पर पूरक भूमिका को स्वीकारते हुए भी वे पुरुष की कूपमंडूकता और स्त्री को दोयम बनाने की पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था को खुल कर चुनौती देती हैं। सुनंदा की मय्यत को कंधा देने आयी नमिता पांडे को

Untitled-1 36 7/23/2010, 1:32 PM

जब पाटिल ससंकोच बरजता है ''ये आप क्या कर रही? आपको मालूम नहीं, औरत के लिए मय्यत को कंधा देना शास्त्र-सम्मत नहीं?'' तो नमिता उसे कड़ा-सा उत्तर देती है कि उस नारी की मय्यत को कंधा देने में धर्मानुशासन किस प्रकार खंडित होता है जो औरत के अधिकारों के लिए लड़ती-लड़ती जीवन-शेष हुई है, वह सारी औरतों को शमशान चलने को प्रेरित करती है, ''कूपमंडूक पुरुषों से हमें सीखना होगा कि क्या शास्त्र है, या नहीं? निर्दोष स्त्री की हत्या करना शास्त्र सम्मत है, पाटिल?, नहीं, तो पूछो अपने हृदय से कि हममे से किसी ने उसके प्राण ले लिए? मैं कंधा किसी औरत की मय्यता को नहीं दे रही, उस स्त्री-चेतना को दे रही हूँ जिसका गला घोंटने की कोशिश हत्या के बहाने हुई है। मैं हर जाति, धर्म, वर्ण की स्त्रियों का आवाहन करती हूँ कि वे सबकी सब शमशान चलें और बारी-बारी से सुनंदा की मय्यत को कंधा दें।'' उपन्यासकार ने गौतमी के माध्यम से उन स्थितियों पर भी भारी चोट की है जिनमें पुरुष ने स्त्री को अपनी शासिता बना कर रख दिया है। पति पत्नी का जिस पाशविक रूप में भोग करता है, गौतमी उसका तीव्र विरोध करती है, आज वह 'अपनी शर्तों पर अपनी जिंदगी जीती है। मातृत्व भी वह अपनी मर्जी से धारण करती है और शय्या-सुख भी अपनी इच्छा के दबाव में प्राप्त करती है। वह अपने पति को 'अधिकृत बलात्कारी' की भूमिका से अलग रखती है'' पति क्या होता है, अधिकारिक बलात्कारी। अथोराइज्ड.. मैंने अशोक को उस अधिकार से वंचित रखा है कि जब मन किया, बीवी सो रही हो, जाग रही हो, काम में व्यस्त हो, मरजी हो, न हो-उठा कर बिस्तर पर पटक लिया..।'' यहाँ स्त्री अपने प्रति किसी भी अत्याचार को सहन नहीं करती, उसका भरपूर विरोध करती हैं। वह कहीं से भी बेचारगी को ओढ़ना नहीं चाहतीं। स्मिता स्वयं अपने पिता के द्वारा भोगी जाती है किंतु वह पिता को कभी माफ़ नहीं कर पाती। अपने मटका किंग खुराफाती बाप को वह सीढ़ियों से गिरा कर मार देती है, पिता के व्यवहार से उसमें जो एक मनोग्रंथि पड़ जाती है, उसका बदला वह अपने पति से लेती है, ''बाप का बदला मैं शरत से लेती रही, उसे उद्दीप्त कर ऐन मौके पर लात लगा।'' बाप का व्यवहार उसमें जो प्रतिहिंसा भाव जगाता है, उससे उसे अपनी शक्ति और क्षमता का बोध होता है, उसे यह अच्छी तरह भान है कि वह आधुनिक युग की ऐसी नारी है जिसे अपने अधिकारों और कर्त्तव्यों का पूरी तरह बोध है। वह हिंदुस्तान की उस औरत की प्रतीक अपने को मानती है जो धीरे-धीरे जन्मने की प्रक्रिया में है। वस्तुतः नारीत्व की यह नयी सोच, वैचारिक दृष्टि से पूरी तरह बदली हुई, नयी जन्मती यह स्त्री नयी नारी-चेतना को सुदृढ़ आधार प्रदान करती है, उपन्यास के स्त्री-विमर्श की यह एक सार्थक उपलब्धि है।

'स्त्रीवाद' और 'स्त्री-पक्ष' के प्रश्न अलका सरावगी के उपन्यासों में 'कथित' कम ही हुए हैं, उनके स्त्री-पात्र उसकी यत्किंचित् अभिव्यक्ति अवश्य करते हैं। इसका बड़ा कारण यह है कि अपने 'कलि-कथा : वाया बाइपास' तथा 'शेष कादम्बरी' उपन्यासों में तो वे मारवाड़ी समाज को केन्द्र में रख उपनिवेशकालीन भारत और आधुनिक भारत को ऐतिहासिक विकास-क्रम में विश्लेषित करने की आग्रही रही हैं और 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में भूमंडलीकृत औद्योगिक जगत की विभिन्न समस्याएँ कथा के केन्द्र में हैं, यहाँ स्त्री-स्वातंत्र्य, आदि के प्रश्न गौण हो कर रह गए हैं। 'कलि-कथा : वाया बाइपास' में किशोर बाबू की पत्नी अपनी तीन साल की छोटी

Untitled-1 37 7/23/2010, 1:32 PM

नातिन से बात-बात पर 'मेरी मर्जी' की उद्घोषणा सुन हतप्रभ रह जाती है, ''वे दंग रह गई कि इतनी छोटी नातिन बच्ची को 'मर्जी' का अर्थ मालूम है, तो उन्हें बताया जाता है कि यह सिनेमा का एक गाना है 'जिसमें हर लाइन के अंत में कहा जाता है-''मेरी मर्जी''। वस्तुतः यहाँ पुरानी पीढ़ी हतप्रभ है कि जब इतने छोटे बच्चों की 'मर्जी' के खिलाफ कुछ नहीं किया जा सकता तो फिर बड़े बच्चों, लड़कियों को किस प्रकार नियन्त्रित किया जा सकता है। वस्तुतः यह नयी पीढ़ी विशेषतः स्त्रियों के 'अपनी राह' चलने के प्रति पुरानी पीढ़ी का क्षुब्ध भाव ह।[7]शेष कादम्बरी की कथा में भी स्त्री-प्रश्नों के लिए कम ही अवकाश है। रूबी दी की व्यथा-कथा में अपने दाम्पत्य की यंत्रणाओं के माध्यम से औरत के भाग्य को ले कर पति के निर्दय व्यवहार पर यह टिप्पणी की गयी है, ''नहीं, रेप नहीं किया उसने मेरे शरीर का। खुद मेरी मर्जी के लिए वह निरे बेमन से सिर्फ. दो-तीन मिनट के लिए आता था मेरे पास। उसे एक-से-एक सुंदर लड़कियों के साथ घूमने की आदत जो थी। और मैं? मैं इस तरह सूखी हुई रहती कि रेप से भी ज्यादा कष्ट होता था मुझे।... अरे विधाता; तूने औरत को क्या सिर्फ पीड़ा झेलने के लिए बनाया-किसी पुरानी फिल्म के घटिया डायलॉग की तरह यह कम्प उसके अंदर गूँज कर रह गया।'' [8]दांपत्य की इस कड़ुवाहट जिसने रूबी दी का जीवन निरस्तार करके रख दिया है। अलका सरावगी ने कादम्बरी आदि के व्यवहार द्वारा बदलती हुई नारी-सोच का परिचय दिया है। 'एक ब्रेक के बाद' मुख्यतः कारपोरेट, उद्योग जगत की समस्याओं को बाजाऱ्वादी और उपभोक्तावाद को केन्द्र में रख विश्लेषित करता है। वहाँ भट्ट की पत्नी के मनोभाव अवश्य स्त्री के अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिए अपनी छटपटाहट दर्शाते हैं, ''भट्ट की पत्नी को विवेक देवराय या उसके परिवार की रत्ती-भर भी परवाह नहीं थी। बस अपनी एक निजी 'स्पेस' बनाने के लिए उसे उन लोगों की ज़रूरत थी। वह एक ऐसी दुनिया चाहती थी जिसमें उसका प्रवेश किसी उपाधि के कारण यानी कि माँ या पत्नी होने के कारण नहीं था, बल्कि इसलिए था क्योंकि लोग उसे हाड़-माँस के व्यक्ति के रूप में देखते थे जो अपनी मर्जी से चलता-फिरता या हँसता-रोता है।'' वस्तुतः परिवार जितना अधिक समृद्धि के सोपान चढ़ता है, घर की मालकिन उतनी ही अधिक, दूसरों के लिए व्यस्त हो कर अपना निजी 'स्पेस' खोजती है, भट्ट की पत्नी इसी पीड़ा से व्यथित है।[9]

अनामिका अपने स्त्रीवादी लेखन के लिए पर्याप्त चर्चित हैं, न केवन अपने महत्वाकांक्षी उपन्यास ('महत्वाकांक्षी' उपन्यास इस अर्थ में कि उसमें सब कुछ समो देने-अँटा देने की स्पृहा लेखिक की रही है) अपितु इस विषय पर अपनी कई अन्य पुस्तकों द्वारा उन्होंने स्त्री-पक्ष और 'स्त्रीवाद' पर काफी-कुछ लिखा है। 'हंस' आदि पत्रिकाओं में उनके स्त्री-विमर्श सम्बंधी कई महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित हुए हैं। अंगेजी भाषा और साहित्य से गहन परिचय (तथा अंग्रेजी साहित्य की प्राध्यापिका) होने के साथ-साथ संस्कृत साहित्य, वैदिक साहित्य से भी उनका परिचय उनके स्त्री-विमर्श को एक ठोस वैचारिक धरातल प्रदान करता है। उन्होंने पाश्चात्य और पौर्वात्य दोनों परंपराओं में स्त्री की स्थिति का गहन अध्ययन किया है, पश्चिम के नारीवादी चिंतकों और ऋग्वेद, पुराणों, आदि के स्त्री सम्बंधी विचार उनके उपन्यासों में वैचारिक पूँजी के रूप में उपस्थित होते हैं। 'तिनका तिनके पास' में लेखिका इसी रूप में पुरुषों की कामाचारी,

Untitled-1 38 7/23/2010, 1:32 PM

दुराचारी प्रवृत्ति, स्त्री-पुरुष, पति-पत्नी सम्बंधों और उनके बीच आज की नारी की भूमिका, उसके स्वातंत्र्य के प्रश्न, आदि के विषय में अपनी खुली सोच, नयी नारी चेतना का परिचय विविध रूपों में देती हैं। औरत की जिन्दगी में कितने प्रकार के 'कामीजन' आते हैं, उनकी 'तीन-चार कोटियाँ होती हैं'- ''कुछ कामियों का दिल सुपरएक्टिव होता है कुछ का दिमाग, कुछ का अधोभाग-लातादि, कुछ की बस जीभ सुपरऐक्टिव होती है। और कुछ ऐसे भी बॉड होते हैं जो चुप्पी, बंकिम दृष्टि, शुभाशांसा आदि निग्रहादि सूक्ष्मतर अवयवों के 'मिशन इम्फॅसिविल' से मिशन एकॉम्पलिश्ड' का सफर पूरा करते हैं।'' इन्हीं कोटियों का वर्णन करते-करते वे अंग्रेजी के रोमैंटिक कवियों पर आती हैं जो अपने लिए 'एक अप्राप्य आदर्श सैट कर लेते थे-वर्डस्वर्थ के लिए नेचर, कॉलरिज के लिए 'सुपरनेचर', कीटस के लिए 'सौंदर्य' शैली के लिए 'प्रेम', बायरन के लिए 'लिबर्टी' ऐसी ही प्लैटोनिक अवधारणा थी, एक तरह का माया-मृग जिसको भींचना असंभव था।'' शीरीन के पिता के घर तीन बरस तक हाउस कीपरी करती नायिका भी अपने जीवन में 'ऐसे-ऐसे विकट पुरुष और अर्द्ध मानव' देखती है कि उसे उन सबकी तुलना में नीम-पागल से पर मन से शिशु शाहिद के बच्चे की माँ बनना ज्यादा अच्छा लगता है। यहाँ 'निरंकुश' जीवन जीती स्त्री अपने जीवन में आए अधिकांश पुरुषों (''प्रत्याशियों') को टालती ही रहती है, क्योंकि उसकी मूल चारित्रिक वृत्ति तो यह है, ''बहुत दिन किसी एक व्यक्ति से बँध कर मैं रह नहीं पाई।'' यहाँ नारी बदले हुए युग की नयी आचार-संहिता को अपनाने की विश्वासी है, ऐसे कई प्रसंग उपन्यास की कथा में सप्रयास नियोजित हैं। इस नयी आचार संहिता में ढली नारी स्त्री-पुरुष सम्बंधों के प्रत्येक पक्ष पर बहुत खुल कर बात कर सकती हैं, उपन्यास में कथा-नायिका की डायरी के कितने ही पृष्ठ उसके जीवन-इतिहास के चौंकाने वाले पृष्ठ हैं। मौसी से पहेली पूछने के बहाने यह प्रश्न खड़ा किया जाता है ''एक अकेली स्त्री की खातिर सबसे दुर्लभ क्या है'', उत्तर है''... सबसे दुर्लभ है पुरुष मित्र।'' आज अकेली स्त्री के लिए मित्र या प्रेमी बुलाना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। ये तो थोक में मिल जाते हैं, कठिनाई यह है कि ''सर्वतोमुखी प्रेम का दावा ठोंकने वाले देह-लोलुप प्रेमी ''तीन बुलावै तेरह आवै'' की तरह थोक में राह चलते मिल जाते हैं मगर देह-निरपेक्ष कोई सच्चा दोस्त नहीं मिलता किसी अकेली स्त्री को।'' पत्नी की भूमिका में भी स्त्री आज अपनी परकीया स्थिति को स्वीकारने का साहस रखती है और औरत देह-सम्बंधी अनेक प्रश्नों को उपन्यास अपने स्त्री पात्रों के माध्यम से केंद्र में रखता है। हमारे शास्त्र जिस रूप में मातृत्व को गौरव-मंडित कर स्त्री-देह का मर्म और धर्म समझाते हैं, उसे उपन्यासकार स्पंदन भी माँ के माध्यम से ऋग्वेद के एक मंत्र के भावार्थ के माध्यम से समझाती है, ''प्रकृति का स्त्री-तेज कहता है : 'जन्म और मृत्यु, रोग-शोक के घात-प्रतिघात की मर्मभेदी पीड़ा और चंचलता के घोर आवर्तन से छिन्न-भिन्न हो कर सब जीव दीर्घ निःश्वास छोड़ते हैं, जब तुम्हारे लिए मैंने अपना विशाल वक्ष-स्थल अनावृत किया है और अनंत भुजाओं का प्रसारण किए तुम्हारे ही पीछे दौड़ी जाती हूँ। तुम मेरी संतति हो! मेरी गोद से दूर कैसे-कहाँ रह सकते हो? मेरी गोदी में दुःख और संताप का स्पर्श भी नहीं। जिससे तुम्हें भीति और आशंका है, मेरा ही स्तन्य है। मातृमुख की आभा से उद्‌भासित है अंतरिक्ष, उसके प्रणवमात्र से मधुव्योम मुखरित है। मातृगोद की संजीवनी

Untitled-1 39 7/23/2010, 1:32 PM

धारा में, आओ अवगाहन करो और अभेद की उपलब्धि के साथ जीवन का आनंद भोगो।'' लेखिका मातृत्व के जिस पक्ष को स्वयं कहने में जो संकोच कर रही है-'जो और तरह से कह नहीं पाती', उसे इस मंत्र के द्वारा कहने का साहस करती है।

प्रेम सम्बंध पर भी आज की बदली हुई दृष्टि 'तिनका तिनके पास' में स्थान-स्थान पर अभिव्यक्ति पाती है। आज स्त्री घर-परिवार की दुनिया से बाहर निकल कर आयी है, तो कदम-कदम पर उसका संपर्क ऐसे पुरुषों-लड़कों से होता है जो उसके आगे प्रेम-प्रस्ताव से ले कर विवाह प्रस्ताव तक ले कर उपस्थित रहते हैं, ऐसे प्रेम 'इकतरफा प्रेम' के रूप हैं जिनकी कितनी ही केस हिस्ट्रियाँ शीरीन के पास हैं ''...धीरोदात्त नायकों के धीरज से सबको टैकल किया है हमने अपमान किसी का नहीं किया, लेकिन दूरी सबसे अधिक बनायी रखी। अपमान इसलिए नहीं किया कि प्रेम-प्रस्तावों की डलिया पर आदृश्य अक्षरों में कुदरत ही लिख देती है, ''हैंडल विद केयर'', दुनिया की सबसे महीन और नाजुक-सी संवेदना प्रेम है-इसको झकझोरना हिमाकत है, पर एक ही प्रेम इतनी बड़ी जिम्मेदारी है कि ज्यादा मैनेज ही नहीं होता-स्नेह मैनेज हो जाता है पर प्रेम? बच्चों की तरह ज्यादा से ज्यादा 'एक या दो-बस' बाकी प्रस्तावों के आगे 'हाउस-फुल' की तख़्ती टाँगने ही पड़ती है।'' [10]यहाँ प्रेम में 'एकनिष्ठता—जैसी अवधारणा किसी भी पात्र के पास नहीं है अपितु सभी इन स्थितियों में है कि वे एकाधिक पुरुष मित्र रख कर उन्हें जब-तब 'संदर्भ ग्रंथों' की तरह इस्तेमाल करती है। यहाँ 'फायरब्रांड' लड़कियाँ हैं, कॉल गर्ल हैं, प्रेम और यौन का चाय-कॉफी की तरह इस्तेमाल करती महानगरों की स्वतंत्र और उद्दाम जीवन जीती लड़कियाँ हैं जिनकी सोच पूरी तरह 'ग्लोबल गाँव' की है। उपन्यास बिना किसी वर्जना-भाव के स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के प्रत्येक पक्ष को खूब खुली अभिव्यक्ति देता हुआ पग-पग पर एक नयी स्त्री-चेतना का बोध कराता है।

अनामिका के बाद की या कहें उनके लगभग समकालीन महिला कथाकारों की पीढ़ी भी स्त्री-प्रश्नों के प्रति उतनी ही जागरुक रही है किन्तु वे स्त्री-अधिकारों की बात कर भी 'स्त्रीवाद' (फेमिनिज़्म) के 'ज्वर' से ग्रस्त नहीं दिखाई देती हैं। कहा जा सकता है कि अब 'स्त्रीवाद' का उन्मादी उत्ताप (क्रेज़) शान्त हो चला है। अपनी सामाजिक-पारिवारिक स्थितियों के परिप्रेक्ष्य में बहुत स्वाभाविकता से स्त्री-स्वातंत्र्य का विमर्श रचते हुए पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था में उसे उसका समुचित, गौरवपूर्ण स्थान दिलाने की वैचारिक बहस उपन्यासों में की जाती है। रजनी गुप्त का 'एक न एक दिन' उपन्यास इसी रूप में विभिन्न कथा-प्रसंगों के माध्यम से भारतीय समाज में उच्च शिक्षिता और आर्थिक दृष्टि से पूर्ण स्वावलंबी, उच्च पदस्थ नारी की व्यथा को चित्रित करता हुआ स्त्री स्वातंत्र्य और समानता के प्रश्न बार-बार उठाता है। कृति का अपने पति से कोई संवाद नहीं रह जाता, कारणों में न जा कर कृति प्रश्न उठाती है, ''पुरुषों को अपने लिए 'ब्रिदिंग स्पेस' की हमेशा दरकार रहेगी, मगर स्त्रियों के लिए वे बात-बात पर फिर वही हदबंदियाँ लाद देंगे जिन्हें बर्दाश्त करता मुश्किल होता गया।'' पग-पग पर पति जब स्त्री पर अत्याचार करता है तो एक उच्च शिक्षिता और उच्च पदस्थ नारी के मन में सारी पुरुष सत्तात्मक व्यवस्था के प्रति विद्रोह पनपता है और वह युग-युग से चले आ रहे स्त्री-प्रताड़न का हिसाब

Untitled-1 40 7/23/2010, 1:32 PM

'माँगता ही नहीं', 'हिसाब चुकता' भी कर देना चाहता है। नारी 'ऐसे शोषण और अन्याय का प्रतिकार करने के लिए कृत-संकल्प है, वह 'ऐसी दोगली व्यवस्था पर थूकती है', दफ़्तर में काम करती नीता राजीव को यह मुँह तोड़ उत्तर थमा देती है, ''...पुरुष वर्चस्व के चलते ही समाज में विषमता की खाई खुदती चली गई। मर्दवादी अहंकार की वजह से औरतें सालों तक उनकी गुलामी बर्दाश्त करने को मज़बूर थीं। आर्थिक परवशता के चलते ही वो मुँह सिए नहीं रहीं और अपने खिलाफ़ होते शोषण को अपनी नियति मान कर ज़ीती रहीं। ...पुरुषों ने हमारी आदर्श छवियाँ गढ़ लीं...अपने सुभीते ओर सहूलियत के हिसाब से हमें गढ़ते-रचते रहे और हम उन्हें मालिक-मालिक चिचियाते हुए उनके अहं को पुष्ट करते रहे। इसी गैर बराबरी के दुष्परिणाम सामने हैं। आज का पुरुष खुद को स्त्री से पैदाइशी तौर श्रेष्ठ समझता है। इस पितृसत्ता ने विरासत में यही झूठा दंभ उनके दिमाग में ठूँस-ठूँस कर भरा है कि तुम बेटे हो, पति हो, पिता हो यानी तुम्हीं सर्वेसर्वा हो। औरत क्या है? दो टके की।'' नीता का यह तेज़ाबी कथन पुरुष सत्ता के खिलाफ़ खुला विद्रोह है। रजनी बड़ी मनोवैज्ञानिकता से पुरुष मानसिकता के अह्म का तार्किक विश्लेषण करती है, '''कोई भी पुरुष अपने अहम् का विसर्जन नहीं करना चाहता। फिर...फिर ऐसे कैसे कटेगा उसका जीवन? क्या होगा? पुरुष दंभ और अहंकार का फन इतना विकराल और विश्वास होता है कि स्त्री चाह कर भी उसो लचीला बना कर अपनी तरफ़ नहीं मोड़ पाती।-- [11]विवेच्य उपन्यास में रजनी गुप्त विषम दांपत्य को जीती नारी की समस्याओं को इस रूप में उठाती है कि स्त्री-अधिकारों और उसके स्वातंत्र्य की बात करते उनके स्त्री-चरित्र अपने आत्म-विश्वास, पुरुष-सत्ता से भिड़ने के साहस और अपनी योग्यता के बल पर अर्जित आर्थिक क्षमता से समाज में अपना और अपने बच्चों का उज्जवल भविष्य बनाते हुए। अपना प्रभावी रूप प्रस्तुत करती हैं।

नारी की इस नयी चेतना ने उसे एक ऐसी नयी जीवन-दृष्टि प्रदान कर दी जिसने युग-युग से चली आती पारिवारिक संस्थाओं, दांपत्य और प्रेम की अवधारणाओं तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के अनेक समीकरणों को पुनर्परिभाषित कर एक नया जीवनाचार समाज में स्थापित कर दिया। सबसे बड़ी बात यह हुई कि आज स्त्री को सब कुछ अंकुठ भाव से कहने का अकूत साहस सहज ही प्राप्त हो गया, न उसके लिए कोई आंदोलन हुए, न किसी प्रकार के संस्थागत प्रयत्न, बस उसे लगा कि अपनी हर प्रताड़ना, प्रत्येक अनाचार, शोषण, परिवार में लालन-पालन में मिले भेदभावपूर्ण असमान व्यवहार, देह-शोषण और अपने मनोगत भावों को उसे पूरी बेबाकी से प्रकट कर देना है। यह उसका स्वाभाविक अधिकार है कि वह अपनी साँस-साँस की धड़कन को कागज पर उतार दे, इसलिए इस कालावधि के उपन्यास-लेखन में महिला कथाकारों ने इतने साहसपूर्वक 'स्व' को अभिव्यक्त (रिलीव) किया कि उसका साहस प्रशंसनीय बन जाता है। परिवार में पिता, सगे भाई, मौसा, जीजा, आदि द्वारा किए गये यौनाक्रमणों, बलात्कारों को बेझिझक अभिव्यक्ति दे कर अपनी मूक व्यथा को प्रकट किया। विवाह-संस्था के बेमानी और रस्मी होते चले जाने, दांपत्य की कुंठाओं, पति से यौन-तुष्टि न हो पाने की पीड़ा और उससे मुक्ति के अन्य रास्तों की तलाश, आदि प्रश्नों पर महिला कथाकारों ने तो खूब-

Untitled-1 41 7/23/2010, 1:32 PM

खूब लिखा ही, पुरुष कथाकारों ने भी इस क्षेत्र में अपने अनुभवों को बहुत खुल कर, तो कहीं-कहीं पूरी तरह अश्लीलतापूर्ण (पोर्नोग्रैफिक) ढंग से अभिव्यक्ति दी। उपन्यास में जिस रूप में यह नयी जीवन दृष्टि और नया जीवनाचार प्राप्त होता है, उसका विश्लेषण आवश्यक है। यह फिर कभी सही।

संदर्भ

(1) सुरेन्द्र वर्मा, मुझे चाँद चाहिए, पृ.119-20 (2) मृदुला गर्ग, कठगुलाब, पृ.17,19-20, 73 तथा 97 (3) प्रभा खेतान, आओ पेपे घर चलें, पृ.35 तथा 36 (4) प्रभा खेतान, छिन्नमस्ता, पृ.126,12 तथा 117 (5) प्रभा खेतान, पीली आँधी, पृ 214 (6) मैत्रेयी पुष्पा, चाक, पृ.7 तथा 18-19 (7) अलका सरावगी, कलि-कथाः वाया बाइपास, पृ.211 (8) अलका सरावगी, शेष कादम्बरी, पृ.73 (9) अलका सरावगी, एक ब्रेक के बाद, पृ.133 (10) अनामिका, तिनका तिनके पास, पृ.29-30,41,60,62, 63,70 तथा 132 (11) रजनी गुप्त, एक न एक दिन, पृ.39, 93-94 तथा 149

Untitled-1 42 7/23/2010, 1:32 PM

उन्मुख

हमारा समय विभिन्न ज्ञानात्मक अनुशासनों की परम्परोन्मुखता का समय है। तथ्यों के पीछे छिपे 'सत्य' को पूर्णतया जान लेने का दावा करने वाली 'विशेषज्ञताओं का दंभ अब नहीं चलने का। तथ्य के 'सत्य' को जानने की किसी भी कोशिश की संभावना मात्र के प्रति भी हम थोड़ा भी समुत्सुक बने रहे सकें, तो इस समुत्सुकता का भी मूल्य कम नहीं होता। इस समुत्सुकता का एक तकाज़ा आज यह भी है कि इतिहास, दर्शन, विज्ञान, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, भाषाशास्त्र, राजनीतिशास्त्र आदि ज्ञान-विधाओं को एक दूसरे की ओर नितांत पीठ फेरकर न चलने दिया जाए। समुत्सुकतापूर्ण बनने की एक ऐसी ही कोशिश को यहाँ हम रेखांकित कर रहे हैं- 'मिशेल फ़ूको और नोम चॉम्स्की के संवाद के रूप में। न्याय और शक्ति या सत्ता ('जस्टिस वर्सेज़ पावर') का द्वंद्व मानवीय प्रकृति के संदर्भ में क्या महत्त्व रखता है तथा मनुष्य की अंतप्रकृति और रचनाधर्मिता उस द्वंद्व से गुज़रते हुए किस तरह के रिश्ते आपस में बनाती है या उन रिश्तों के बनने-बिगड़ने में वह द्वंद्व क्या भूमिका अदा करता है, इन प्रश्नों को लेकर चलने वाला, फ़ूको और चॉम्स्की का यह संवाद रोचक भी है और विचारोत्तेजक भी। हिन्दी अनुवाद के रूप में इसे प्रस्तुत किया है श्री सुबोध शुक्ल ने।

Untitled-1 43 7/23/2010, 1:32 PM

रचनाधर्मिता और अन्तःप्रकृति : फ़ूको–चाम्स्की संवाद

मिशेल फ़ूको (कॉलेज दे फ्रांस) एवं **नोम चॉम्स्की** (मैसेच्यूट्स इन्स्टीट्यूट ऑफ़ टेक्नोलॉजी)
की एक वार्ता का अंश

(यह वार्ता 1971 में हुयी थी। शक्ति संतुलन के सन्दर्भों में और मनःप्रवृतियों के अंतर्विवेचन में दोनों विचारकों के दृष्टिकोणों में कहीं समानता व कहीं अन्तर मिलता है। मानो, दोनों ही विपरीत दिशाओं से, एक ही पर्वत को काटकर, मार्ग बना रहे हों (दशा समान, दिशा भिन्न)। दर्शन एवं राजनीति पर यह अनूठी वार्ता है।

भाषा से मनोविज्ञान तक की अपनी यात्रा में मनुष्य, जिस नैसर्गिक एवं सामान्य प्रश्न का उत्तर खोजता रहा है, वह वाह्य परिवेश व अंतः प्रकृति के मध्य, उसके संतुलन से सम्बन्ध रखता है। हम वाह्य सृष्टि के उत्पाद हैं अथवा संस्कारों के परिणाम? इस प्रश्न का उत्तर इन दोनों विचारकों की वार्ता का ध्येय है।)

प्रश्न (चॉम्स्की से)- आप मानव-स्वभाव पर चिन्तन करते हुये, अन्तःसंरचना एवं अन्तर्विवेक जैसे शब्दों का प्रयोग करते रहते हैं - क्यों?

चॉम्स्की- इसे यों समझें कि हर भाषाविद् को एक निश्चित पहेली सुलझानी पड़ती है। वह विचारों को, सटीक अर्थवत्ता से समझाने एवं समझने की क्षमता रखता है। सामान्य वार्तालाप में भी कहने-सुनने में सदैव नवीनता पायी जाती है, यह वह जानता है। नवीनता का यह आपसी प्रवाह अचानक नहीं आता अपितु परिस्थितिजन्य होता है। इसीलिए किसी विशेष परिस्थिति के अंतर्गत इसे रेखांकित करना बेहद कठिन है और यही रचनाधर्मिता है।

कहने सुनने की अपनी अद्‌भुत क्षमताओं के साथ उसे अनुभव भी मिलते रहते हैं। समूचे

Untitled-1 44 7/23/2010, 1:32 PM

जीवन काल में मनुष्य भाषा के साथ-साथ अनूभूतियों का लेखा-जोखा भी हो जाता है। भाषाओं की भिन्नता एवं वार्ताओं द्वारा उपलब्ध ज्ञान का लेखाजोखा सिद्ध करता है कि अनुभव भिन्न होने पर भी संवेदनाओं का विस्तृत धरातल समान होता है।

इसे ऐसे भी कह सकते हैं कि सीमित अनुभवों का बिखराव ही, मनुष्य को संकलित ज्ञान का स्वामी बनने का आधार देता है।

शिशु को भाषा-ज्ञान नहीं होता किन्तु फिर भी वह भाषागत संकेतों को समझने का लघु किन्तु भरसक प्रयास करता है। वयस्क होने पर वह भाषा के सहारे ही गहन ज्ञान की ओर छलांग लगाता है। शैशव से प्रौढ़ावस्था तक ज्ञान संकलन करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण यह ''अन्तर्ज्ञान'' ही होता है। इसी के कारण शिशु भाषा से भी परिचित होता है एवं ज्ञानार्जन के पश्चात उसका चिन्तन भी इसी पर आधारित और निर्भर होता है। यह अन्तर्ज्ञान ही मनःप्रवृत्ति का मूलाधार है। इस प्रकार भाषा-ज्ञान मानव में मात्र संवाद ही नहीं लाता अपितु उनमें विचार विनिमय व कर्मयोजन भी स्थापित करता है। यह मानव व्यवहार के अन्य पहलुओं को भी प्रभावित करता है। वैयक्तिक, बौद्धिक एवं सामाजिक पक्ष के निरूपण की इस विधा को ही हम 'मनःप्रवृत्ति' (मानव स्वाभाव) कहते हैं।

प्रश्न (फ़ूको से)- आप अपनी पुस्तक The History of Madness and Words and Objects में, विपरीत लक्ष्य और उद्देश्यों को लेकर एक भिन्न किस्म की विचारधारा का प्रतिपादन करते हैं। मुझे लगता है कि आप कुछ तयशुदा आग्रहों से इतिहास को देखने का प्रयास करते हैं। क्या यह सही है?

फ़ूको - क्षमा करें, मेरी अंग्रेज़ी अच्छी नहीं है मैं फ्रेंच में उत्तर देना चाहूँगा।

यह सच है कि मुझे मनःप्रकृति (मानव-प्रवृत्ति) पर अधिक भरोसा नहीं है। कारण कि विज्ञान भी जिन परिकल्पनाओं को आधार बनाता है, उनकी व्याख्या में भी एकरूपता नहीं होती, न ही उनका कार्य-संपादन समान होता है। 'प्राणिशास्त्र' का उदाहरण लें - यहाँ हमारा परिचय श्रेणीबद्धता, क्रियाभिन्नता एवं विश्लेषणात्मकता से होता है।

जहाँ ऊतक (टिशू) का अध्ययन हमें वस्तु ज्ञान देता है वहीं वह वंशानुगत एंव संवेदनशीलता का भी विश्लेषण करता है। ऐसे एक ही तत्त्व, बाहरी विश्लेषण और आन्तरिक संरचना में संगति बैठा रहा होता है। कुछ सामान्य सिद्धान्तों (Peripheral notions) को विज्ञान स्वयं ही निर्धारित करता है जो उद्देश्य को सुनिश्चित करने के लिये, अन्य सिद्धान्तों से अपने को अलग कर लेते हैं, ताकि भविष्य में अपनी क्रियापद्धति को निश्चित कर सके - प्राणिशास्त्र में इस विचारधारा का कुछ समय तक प्रभाव रहा।

सत्रहवीं-अठारहवीं शताब्दी तक जीवविज्ञान का प्रयोग अतःप्रकृति के अध्ययन में नहीं किया जाता था। पदार्थ, मनुष्य एवं पेड़-पौधों के मध्य सम्बन्ध सुनिश्चित नहीं किया जा सकता था। उनकी अपनी अपनी जटिलता और संरचना जान पाना ही विज्ञान समझा जाता था। अठारहवी शताब्दी के अंत तक नये यंत्रों और तकनीक की सहायता से हम जान सके कि प्राणिशास्त्र की सहायता से हम मानव की अंतःप्रकृति को समझ सकते हैं।

Untitled-1 45 7/23/2010, 1:32 PM

लेकिन मैं ऐसा नहीं मानता कि जीवन की खोज ने ही प्राणिशास्त्र को जन्म दिया होगा बल्कि जीव विज्ञान के द्वारा हम जीवन व उसके वैज्ञानिक संदर्भों को और अच्छी तरह समझ सके। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन के विषय में चिंतन करना कोई वैज्ञानिक विचारधारा नहीं है—यह ज्ञान-संवर्धन की एक विधा मात्र है जिसका क्रिया-विश्लेषणात्मक वैज्ञानिक वार्ताओं पर प्रभाव देखा जा सकता है। मानव की अंतःप्रकृति पर विचार करना भी कुछ ऐसा ही है।

अंतःप्रकृति के अध्ययन से न तो समग्र संक्रमण के सिद्धान्त को, न फ्रायड के स्वप्न विश्लेषण को, न ही सांस्कृतिक मानवशास्त्रियों की विचारधारा को कोई सहायता मिल सकी। इतिहास में 'अंन्तःप्रकृति' का अध्ययन ज्ञानवार्ता तक ही सीमित रहा। इसकी कोई वैज्ञानिक अवधारणा नहीं मिलती।

चॉम्स्की- पहले तो मैं यह बता दूँ कि मानवीय ज्ञान के ढाँचे में उसका तांत्रिका तंत्र भी सम्मिलित होता है। यही कारण है कि शिशु भी जिज्ञासु होता है। शरीर संरचना अंतःप्रकृति के निर्माण में अनिवार्य भूमिका रखती है। हमारी मानसिक शक्तियों का आधार जैव वैज्ञानिक होता है।

एक कदम आगे बढ़कर मैं तो यह कहूँगा कि जीवन का विश्लेषण ही, प्राणिविज्ञान का आधार है। भविष्य में मानवीय अंतःप्रकृति का अध्ययन, प्राणिविज्ञान को नई ऊँचाईयाँ दे सकता है और उन्हें यह समझने के लिए भी प्रेरित कर सकता है कि आखिर जीवन है क्या?

आज शिशु की ज्ञान-संग्रह-क्षमता पर जो प्रयोग हुए हैं; क्या वे भौतिक एवं जीव वैज्ञानिक व्याख्यायें देने में समर्थ हैं? इन प्रयोगों से क्या ज्ञान संग्रह की जटिल प्रक्रिया एवं उस ज्ञान का स्वतंत्र और संरचनात्मक प्रयोग करने का कौशल विवेचित किया जा सकता है?

मुझे विश्वास है कि हम इसकी व्याख्या नहीं कर सकते अपितु आशा अवश्य कर सकते हैं कि भविष्य में संभवतः विज्ञान इसे स्पष्ट कर पाये। यह शरीर और मस्तिष्क की अंतर्सम्बन्धी समस्या कही जा सकती है, किन्तु 17वीं/18वीं सदी के हुये वैज्ञानिक उत्कर्ष इसका प्रभाव देते हैं कि भौतिक विज्ञान का विकास ही इसका प्रमुख कारण रहा है। यही कारण बना कि विज्ञान जीवन के रहस्यों की खोज में उन्मुख हुआ। कार्टीशियन्स (देकार्त और अनुयायी) के लिए गुरुत्वाकर्षण एक रहस्यात्मक शक्ति बना रहा, जब तक न्यूटन ने इसे नहीं खोजा; यह अलग बात है कि न्यूटन भी इसे पराशक्ति ही मानते रहे। किन्तु आज इन क्रियाओं को विज्ञान के अंतर्गत माना जाता है। भू-विज्ञान का दृष्टिकोण व्यापक हुआ है। कार्टीशियन्स मानते थे कि खगोल पिण्डों की घटनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती। वस्तुतः विद्युत चुम्बकीय शक्तियों की व्याख्या हो भी नहीं सकती किन्तु विज्ञान के उत्कर्ष ने इन जटिल समस्याओं की खोज को भी अपने विश्लेषण की परिधि में ले लिया। उदाहरणार्थ कार्टीशियन्स का विज्ञान, परमाणु की व्याख्या वैसी ही नहीं कर सका जैसे जीवन की।

Untitled-1 46 7/23/2010, 1:32 PM

इस प्रकार प्रश्न उठता है कि क्या भौतिकी या प्राणि विज्ञान आज मानवीय अंतःप्रवृत्ति की व्याख्या करने का प्रयास नहीं कर रहे हैं तथा क्या मनुष्य की बौद्धिक क्षमताओं का स्वतंत्र परिस्थितियों में प्रयोग किया जाना विज्ञान की परिस्थितियों में नहीं आता? हो सकता है आज ये विज्ञान के विषय न भी हों, किन्तु भविष्य में विज्ञान को इन्हें अपने अक्ष में लाना होगा ताकि उसके उन्नयन के आयाम बढ़ सकें।

फ़ूको- ठीक है।

प्रश्न- आप दोनों की उपर्युक्त वार्ता बहुत तकनीकी हो रही है, परिणामतः वह एक प्रश्न पैदा करती है। लगता है कि आप दोनों की वार्ता में मुख्य अंतर दृष्टिकोणों और पद्धतियों का है। जहाँ 'फूको' वैज्ञानिक पद्धतियों से प्रभावित हैं वहीं चॉम्स्की की , भाषा की व्युत्पत्ति एवं विकास क्रम में अभिरुचि है। 'क्यों और कैसे' में जहाँ 'फूको' 18वीं सदी को बौद्धिक युग मानते हैं वहीं चॉम्स्की उस बौद्धिक तर्कवाद को स्वतंत्र व रचनाधर्मी कहते हैं। 17/18 वीं सदी के परिप्रेक्ष्य में इसे और व्याख्यायित करने का प्रयास करें-

चॉम्स्की- परम्परागत तर्कवाद को मैंने कभी विज्ञान के इतिहासकार या दर्शन के इतिहासकार के रूप में नहीं देखा। हाँ, सामान्य व्यक्ति के उस दृष्टिकोण से अवश्य जाँचने का प्रयास किया है जो विज्ञान के सीमित और परिधिगत विमर्श के बावजूद, धीमे-धीमे अपने अवचेतन से ही सही, उस ओर बढ़ता जाता है।

मैं 17वीं सदी के विचारक्रम को किसी इतिहासविद् की पुरातात्त्विक जिज्ञासा से नहीं जानना चाहता और साथ ही, न ही उस जिज्ञासा को निरर्थक ही मानता हूँ अपितु एक कलापारखी की भाँति मैं उस कालखण्ड में कुछ मूल्यों की तलाश में हूँ।

अपनी अद्यतन प्रतिभा के साथ हम पीछे मुड़कर देखते हैं तो पाते हैं कि महान विचारकों ने कभी भी अपनी सीमाओं की मजबूरी में, आगे बढ़ना नहीं रोका।

अतीत विश्लेषण के ऐसे प्रयोग हर व्यक्ति कर सकता है बशर्ते वह उन महान विचारकों से अपनी तुलना न करने लगे।

प्रश्न- क्यों न करे (तुलना)?

चॉम्स्की- देखें-परखें

प्रश्न- पर फिर भी क्यों नहीं?

चॉम्स्की- ठीक है (हंसते हुए)। कोई भी यह सोचे कि वह आज जो जानता है वह बीस साल पहले से कितना अलग है, और समझ सकता है कि धीमे-धीमे वह किसी लक्ष्य की ओर बढ़ता जा रहा है। सौभाग्य होगा यदि उसे वह लक्ष्य पता चल जाये।

इसी तरह अपने दृष्टिकोण को तोड़े-मरोड़े बिना अतीत की ओर झांका जा सकता है। जैसे जब मैं 17/18 वीं सदी की ओर घूम कर देखता हूँ तो मुझे आश्चर्य होता है कि कैसे डेकार्ट और उसके अनुयायी 'दिमाग' को शरीर से भिन्न एक विचार यंत्र मानते रहे और गलत ही सही इन सबकी व्याख्या, वे भौतिक विज्ञान के अंतर्गत करते रहे। आज हम

Untitled-1 47 7/23/2010, 1:32 PM

सभी जानते हैं कि हमारे अंदर, मस्तिष्क और विचार अस्तित्व के प्रवहमान अविभाज्य अंग हैं।

कारण यह रहा कि डेकार्ट मानता था कि कुछ घटनाओं की व्याख्या यांत्रिकी विज्ञान कर सकता है पर कुछ की नहीं। परिणामतः 'उसने मस्तिष्क और उसके धर्म' का एक संरचनात्मक सिद्धान्त निष्पादित किया। बहुत से अनुयायी जो बाद में अपने को कार्टीशियन्स नहीं कहते थे और जो बुद्धिवादी नहीं थे, रचनाधर्मिता को सृष्टि का नियम मानने लगे।

विल्हेम वॉन हम्बोल्ट ने डेकार्ट के सिद्धान्तों से अलग होकर आंतरिक मूल संरचना को महत्व दिया व सृष्टि में संरचना के सिद्धान्त को स्वीकारा।

मैं अपने सहयोगियों से मतभेद रखते हुए ऐसा मानता हूँ कि मस्तिष्क को शरीर से अलग एक विचार यंत्र मानना डेकार्ट की एक वैजानिक खोज थी। ना तो यह अवैज्ञानिक विचारधारा थी, न ही धर्मावलम्बित। यह न्यूटन की गुरुत्वाकर्षण की खोज की भांति, रहस्यमयी परिधि में प्रवेश करने जैसा था, जहाँ परस्पर भिन्न सिद्धान्तों का समन्वयात्मक स्पष्टीकरण मिल सके।

डेकार्ट ने न्यूटन के समतुल्य ही भिन्नास्वस्था पर प्रयोग किये किन्तु वे अपने सिद्धान्त को गणितीय आधार पर सिद्ध न कर पाये। इसलिये अमान्य हो गये। वहीं न्यूटन और उनके अनुयायी अपनी सिद्धान्तों को गणितीय आधार दे पाने में सफल रहे-चाहे वह गुरुत्वाकर्षण रहा हो या विद्युत चुम्बकीय प्रभाव।

किन्तु 'मस्तिष्क' की व्याख्या का कोई गणितीय सिद्धान्त खोजना अभी शेष है, जो प्रयोगधर्मी और यथार्थवादी हो ताकि आधारभूत परिणामों से उसे व्याख्यायित किया जा सके। उपर्युक्त दृष्टिकोण से ही मैं 17वीं/18वीं सदी का परीक्षण किया करता हूँ- यह जानते हुये कि सामान्यतः व्यक्ति ऐसा नहीं करते।

प्रश्न- फ़ूको, शायद आप इसे स्वीकार न करें।

फ़ूको- नहीं; बस एकाध तथ्यात्मक पहलुओं पर कुछ कहना चाहूँगा। बुद्धिवाद के ऐतिहासिक विवेचन का मैं विरोध नहीं करूँगा किन्तु जहाँ डेकार्ट के रचनाधर्मी सिद्धान्त की बात आती है, वहाँ यह समझना जरूरी है कि उन्होंने मस्तिष्क को उसके गठन में उर्वर या निषेचित दशा का नहीं माना अपितु वे इसे साक्ष्य तथा अनुभूति से प्रकाशित पिण्ड मानते थे।

डेकार्ट इस समस्या को कभी नही सुलझा सके कि प्रत्यक्ष, अनुभूति और साक्ष्य के स्तरों पर मस्तिष्क कैसे कार्य करता है एवं इनके मध्य अंतर्सम्बन्ध बनाने की कौन सी विधि होती है? क्षण-क्षण रचनात्मक बने रहने की प्रवृत्ति तथा सत्य स्वीकार पाने की अपनी परिवर्तनशील क्षमता के रहते हुए भी डेकार्ट के लिये मस्तिष्क एक अबूझ अस्तित्व बना रहा।

इसके विपरीत पास्कल और लेबनीज हमें अपने अधिक करीब लगते हैं, तात्पर्य यह है कि पास्कल के साथ ईसाइयत में आगस्टीन की विचारधारा, दिमाग के इस गहन रूप

Untitled-1 48 7/23/2010, 1:32 PM

पर एकमत लगते हैं जिसमें गहरे तल पर कहीं अचेतन अपनी आंतरिक शक्तियों को जगाता हुआ मिलता है। यही वजह है कि पोर्टरॉयल की व्याकरण कार्टीशियन से ज्यादा ऑगस्टीनियन है। लेबनीज में हमें वह पसन्दीदा विचार मिल जाता है, जहाँ मस्तिष्क की जटिल संरचना वह तर्कजाल बुनती है जहाँ चेतना के नीचे अचेतन प्रवाहित होता रहता है। जगत को समझने के लिए व्यक्ति उसे क्रमशः विकसित करता रहता है। भले ही वह स्पष्ट न हो पाए। मैं इसको ऐसा समझता हूँ।

चॉम्स्की- कृपया रुकिए। मुझे लगता है कि इन अवधारणाओं की ऐतिहासिक विवेचना न करके आप आपने मौलिक विचार प्रकट करिए।

फ़ूको- किन्तु मौलिक विचार भी विश्लेषण द्वारा ही प्रकट किए जा सकते हैं।

प्रश्न- अच्छा ठीक है। लेकिन जहाँ तक मुझे याद है कि 17वीं-18वीं शताब्दी का विश्लेषण करते हुए आपने (फ़ूको) इसे पागलपन का इतिहास बतलाया है। इसके ऐतिहासिक विश्लेषण को करते हुए आपने दमन (Repression) शोषण (Suppression) और वर्जनाओं (Exclusion) की बात उठाई है जबकि चॉम्स्की इस अवधि को रचनाधर्मी और वैयक्तिक विकास की सदी मानते हैं।

प्रश्न यह है कि इस काल में पहली बार पागलखाने क्यों बने? मैं समझता हूँ कि यह एक मौलिक प्रश्न है।

फ़ूको- रचनाधर्मिता पर? ठीक है। मैं समझता हूँ कि चॉम्स्की इसका ठीक विश्लेषण करेंगे।

प्रश्नकर्ता- नहीं-नहीं कृपया आप ही कहिए।

फ़ूको- मैं यह कहना चाहूंगा कि इतिहास के अपने अध्ययनों में वैयक्तिक रचनाधर्मिता को मैंने कभी महत्त्व नहीं दिया—न ही उनके अंतर्मन या वैज्ञानिक सत्य और सिद्धान्तों को जानने की उनकी क्षमता को ही स्वीकारा।

किन्तु चॉम्स्की की समस्या से मेरी समस्या मेल नहीं खाती। वे (चॉम्स्की) भाषायी व्यवहारिकता के पक्षधर हैं और मैं मानता हूँ कि भाषा व्यक्तित्व के लिए एक सतही अस्तित्व रखती है, जो सूचना का आयात और सांगोपांग प्रस्तुतीकरण मात्र करती है। विज्ञान अथवा विचार के परिप्रेक्ष्य में समस्या दूसरी होती है। ज्ञान के दो क्षेत्र देखे जाते हैं—प्रथम वह, जहाँ किसी प्रयोग एवं अन्वेषण का श्रेय खोज करने को दिया जाता है। दूसरी, वे सामान्य घटनायें व प्रयोग जिन्हें किसी एक व्यक्ति ने नहीं किया-जो समाज की सम्पत्ति है उन्हें परम्परा, ढंग या सामान्य सोच कहकर नकार दिया जाता है क्योंकि उनमें अन्वेषक व मौलिकता का अभाव रहता है। ज्ञान-क्षेत्र में इसे संक्षेप में, कर्ता (अन्वेषक) की प्रभुसत्ता का सिद्धान्त कहा जाता है। वहीं दूसरी स्थिति में ज्ञान इतिहास में छुपे हुए सत्य को स्वीकारता है, अन्वेषक की सत्ता को नहीं। उस सत्य को जिसका इतिहास निर्माण नहीं कर सकता बल्कि वहाँ वह झांकता मिलता है, सामान्य मनुष्यों की दृष्टि से ओझल, अपने को प्रकट करने की तलाश में। सत्य के इतिहास में, उसके प्रकट होने

Untitled-1 49 7/23/2010, 1:32 PM

में सदैव विलम्ब देखा गया है। यही कारण है कि ज्ञान का इतिहास सत्य को स्वीकारने में नकारात्मक रहा है।

उपर्युक्त दोनों क्षेत्र अविरोधी होकर चलते रहते हैं। अनवेषक/कर्त्ता के समक्ष अंधविश्वास और परम्पराएँ जो समाज की धरोहर होती हैं; सबसे बड़ी बाधा बन कर खड़ी हो जाती हैं। उन्हें पार करने के लिये अन्वेषक को समाज के विरोध में जाना पड़ता है ताकि वह सत्य को खोज सके।

विज्ञान के इतिहास में अन्वेषक की निष्ठा एक खास किस्म का रोमान है जो इतिहास के पन्नों पर पहुंचने के बावजूद अपनी मौलिकता बनाये रखती है। मेरे विचार में, ज्ञान का इतिहास अन्वेषक के सिद्धान्तों, विषयों से सदैव प्रभावित रहा है।

तो वास्तव में क्या किसी व्यक्ति का सत्य के साथ सम्बन्ध ज्ञान के प्रभाव से ही सिद्ध माना जाता रहा है? क्या समझदारी एक जटिल, गुणात्मक और गैर-वैयक्तिक स्थिति थी, व्यक्ति/अन्वेषक की दासता से हीन जो कि सत्य के प्रभावों को पैदा करतीं थी? यहाँ आवश्यकता है कि उस समूचे पहलू को सकारात्मक रूप से समझा जाए जिसने विज्ञान के इतिहास को नकारात्मकता दी। ज्ञान की विकासशील क्षमता को साामूहिक अभ्यास के रूप में विश्लेषित किया और जिसने परिणामतः व्यक्तियों और उनकी समझ के स्थान पर, ज्ञान के विकास को प्रमुखता दी जो कि एक निश्चत समय में निर्मित रिवाजों के अनुसार काम करती है।

आप यह कह सकते हैं कि विज्ञान को समझने वाले मार्क्सवादी इतिहासकार बहुत समय से यही कर रहें हैं पर जब हम देखते हैं कि उन्होंने यह काम किया कैसे है और उन्होंने चेतना की धारणा का कैसे प्रयोग किया है और कैसे विचारधारा को विज्ञान के विपरीत खड़ा कर दिया तो यह कहा जा सकता है कि अपनी मूल सोच में ज्ञान की विचारधारा से कम या ज्यादा असम्पृक्त थे। कुछ भी हो पर मैं जिस बात को लेकर सबसे अधिक उत्सुक हूँ वह है ज्ञान के अन्वेषण के इतिहास के स्थान पर ज्ञान के रूपान्तरण को महत्व दिया जाए।

इसलिए रचनाधर्मिता वाले प्रश्न पर मैं चॉम्स्की से विभिन्न मत रखता हूँ क्योंकि मेरे लिए रचनाधर्मिता का अर्थ, विषय से संदर्भित संभ्रम को समाप्त करना है जबकि चॉम्स्की के लिए विषय पर बार-बार विचार करने के लिए संभ्रम पैदा करना आवश्यक है।

किन्तु यदि वह उसे पुनः प्रत्यक्ष करते हैं उसे विश्लेषित करते हैं तो वह सिर्फ इसलिए कि वे ही ऐसा कर सकते हैं। भाषाविदों ने बहुत पहले से भाषा को एक सामूहिक मूल्य के रूप में देखना शुरू किया है। अनुशासनों की ऐसी संगठित समझदारी जो कि समय-समय पर पैदा होने वाले ज्ञान को विश्लेषित करती है, इनका अध्ययन अब से पहले कभी नहीं किया गया। यह धारणा पर्यवेक्षक के लिए शुभ संकेत है। चिकित्सा शास्त्र का उदाहरण लीजिए—18वीं सदी की बीस किताबों में जो विषय होगा (1770-1780 की किताबें हों या फिर 1820-1830 के मध्य की) अगले 50 वर्षों में पूरा बदल जायेगा। निदान एवं चिकित्सा के स्तर पर ही नहीं अपितु दृष्टिकोण के आधार पर भी।

Untitled-1 50 7/23/2010, 1:32 PM

अब इसका उत्तरदायी किसे मानें? पूर्ववर्ती शरीर शास्त्रियों को (बिशेट आदि) या अभी तक सभी को।

चिकित्सा विज्ञान का उत्सर्ग सामूहिक परिश्रम का परिणाम है। यह प्रक्रिया नकारात्मक नहीं कही जा सकती बल्कि यह अंधविश्वासों एवं परम्परागत वर्जनाओं का परिहार है जो अनुभव व तर्क के नये रास्ते खोलती है, जिनका ध्येय मौलिकता की खोज है। ज्ञान का अस्तित्व इसी प्रक्रिया में निहित होता है।

मनुष्य के ज्ञान संवर्धन के इतिहास में दो प्रकार की विश्लेषणात्मक पद्धतियाँ दिखाई देती हैं—प्रथम वे जो उन परिस्थितियों एवं कारणों पर प्रकाश डालती हैं जहाँ बिना अन्वेषण किए ज्ञान, जीवन यात्रा के रचनात्मक चरणों में संग्रहीत होता रहता है, दूसरी में ज्ञान एक नवीन विषय प्रतिपादित करता मिलता है जो विषय अप्रकाशित व अनूठा है। यहाँ (दूसरी विधि में) अपूर्ण एवं निम्नस्तरीय पद्धतियों को लेकर मेरा उद्देश्य 'चॉम्स्की' के साथ चल सकता है—जहाँ कुछ निश्चित तरीकों द्वारा एक अज्ञात सम्पूर्णता को प्राप्त करने का लोग दावा करते हैं। इस समस्या का निदान, चॉम्स्की, व्याकरणीय विश्लेषण के क्षेत्र में विषय-संभ्रम के प्रयोग करके ढूँढ़ते हैं। लेकिन इसी प्रकार की समस्या मेरे क्षेत्र में (इतिहास अध्ययन में) ठीक विपरीत ढंग से सुलझायी जाती है। जैसे व्यक्ति के सीमित ज्ञान में दूसरों के विचारों का जोड़ना तथा नियमों और 'सिस्टम' को अधिक पूर्णता देना। यही वजह है कि रचनाधर्मिता की पहेली सुलझाने का कोई एक तयशुदा मार्ग नहीं होता (समान विचारधारा के स्तर को छोड़कर)।

चॉम्स्की- रचनाधर्मिता को अलग अर्थों में लेने के कारण हम अंशतः विपरीत धरातलों पर बात कर रहे हैं। वस्तुतः रचनाधर्मिता मेरे लिए असामान्य अर्थ रखती है, इसीलिए उसे स्पष्ट करने का दायित्व भी मेरा बनता है। जब मैं रचनाधर्मिता कहता हूँ तो इसके साथ ऐसी कोई वैज्ञानिक उपलब्धि पर चर्चा नहीं करता जो उसे न्यूटन आदि से सम्बन्धित करता है किन्तु एक सामान्य व्यक्ति के कार्य से इसे जोड़कर देखता है। जैसे कोई बच्चा किसी भी नई परिस्थिति में कोई प्रतिक्रिया देता है तो मेरे लिए वह रचनाधर्मिता ही है। यह कार्य और प्रतिक्रियाएँ भले ही न्यूटन के कार्य जैसे नहीं हों किन्तु निःसन्देह रचनाधर्मी हैं।

वास्तव में यह कहना अधिक उचित रहेगा कि कला अथवा विज्ञान के नजरिये से रचनाधर्मिता सामान्य स्थितियों से ज्यादा अनोखी होती है; और यही बात अंतःप्रवृत्ति के बारे में मैं कहना चाहूँगा जिसका कि मानवीय संदर्भों में व्यापक स्तर पर पूर्ण विकास सम्भव नहीं है और जो सामान्य रचनाधर्मिता को रोज़मर्रा की ज़िन्दगी का हिस्सा नहीं बना पाता।

मेरा विश्वास है कि विज्ञान सामान्य सर्जनात्मकता या रचनाधर्मिता की समस्या को एक विषय के तौर पर अपने भीतर से सक्रिय होते देखने की प्रतीक्षा में उत्सुक हो सकता है। लेकिन मैं यह नहीं मान सकता (और शायद आप भी मुझसे असहमत न होंगे) कम से कम तर्क के दायरे में आने वाले भविष्य में भी नहीं कि विज्ञान किसी ऐसे क्षण की प्रतीक्षा

Untitled-1 51 7/23/2010, 1:32 PM

कर सकता है जब वह वास्तविक अर्थवाली रचनाधर्मिता का अपने लिये भी दावा कर सकेगा। रचनाधर्मिता के दायरे में आने वाली असाधारण परिघटनाओं को अपने में समायोजित करने की कोई आशा वह नहीं कर सकता।

जहाँ तक विज्ञान के इतिहास के बारे में आपकी धरणा का संबंध है, मैं समझता हूँ, वह सही और समझदारी बढ़ाने वाली होने के साथ-साथ, वस्तुतः उन उद्यमों के लिए विशेष प्रासंगिक भी है, जो मनोविज्ञान, भाषाविज्ञान और मनःदर्शन के क्षेत्र में होते दिख रहे हैं। मेरे ख्याल से कुछ विषय ऐसे हैं, जिनहें पिछली कुछ शताब्दियों के दौरान हुई वैज्ञानिक प्रगति में किनारे कर दिया गया है या दबा दिया गया है। उदाहरण के लिए, विज्ञान के संदर्भ में जिस निम्नस्तरीय रचनाधर्मिता की बात मैं कर रहा हूँ, वह सच पूछिये तो देकार्ट में भी थी। मसलन, जब वह एक तोते (जो सुने हुए की नकल उतार सकता है) और एक मनुष्य (जो किसी भी स्थिति के अनुसार नई बातें कह सकता है) के बीच अंतर बताता है और जब वह भौतिक विज्ञान की सीमाओं का बोध कराने वाली विशेष बातों की ओर इशारा करके 'मन के विज्ञान' के नये पदों से हमें मुख़ातिब करता है तो मैं समझता हूँ वह उसी रचनाधर्मिता की बात कर रहा होता है, जिसका प्रत्यय मेरे मन में है और तब ऐसी धारणाओं के अन्य स्रोतों के बारे में आपके कथन से मैं एकदम सहमत हूँ।

और हाँ, सर विलियम जोन्स और कुछ विचारकों के बाद के दौर के महत्त्वपूर्ण पड़ावों तथा समग्रतया तुलनात्मक भाषाशास्त्र में हुई प्रगति के दौरान उपर्युक्त प्रत्ययों को- यहाँ तक कि वाक्य-रचना की संगठनात्मकता की समूची धारणा को भी, एकदम किनारे कर दिया गया।

लेकिन अब, मैं सोचता हूँ, उस दौर का हम अतिक्रमण कर सकते हैं। तुलनात्मक भाषाशास्त्र के इस युग में, बल्कि मेरे विचार से अब जबकि संरचनात्मक भाषाविज्ञान, व्यवहारवादी मनोविज्ञान और हमारे मन तथा व्यवहार के अध्ययन की अनुभववादी पंरपराओं के बीच से विकसित होने वाले चिंतन के अनेक रूप हमें उपलब्ध हैं, हमारे लिए यह संभव है कि उन तमाम सीमाओं से उबरकर अपनी चेतना में उन तमाम विषयों को भी आने दें जिन्होंने 17वीं-18वीं शताब्दी के सोच-विचार और पर्यवेक्षणों में जान डाली। इस तरह मनुष्य के विज्ञान की अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और गहरी समझदारी विकसित की जा सकती है, जिसे निश्चित ही अंतिमतया पूर्ण कहने का मोह पाले बिना, कम-से-कम एक अधिक पूर्णता वाले 'रेंज' में हमें पहुँचाने का श्रेय पाने की उम्मीद तो की ही जा सकती है। नवाचार, रचनाधर्मिता, स्वतंत्रता, नई निर्मितियाँ, चिंतन और किसी व्यवस्था या किसी अनुशासन के भीतर के नये तत्त्व वग़ैरह से संबंधित जो प्रत्यय हैं, उन्हें यों साधा जा सकता है।

अनुवाद : सुबोध शुक्ला

Untitled-1 52 7/23/2010, 1:32 PM

सृजनभूमि

कवि के लिए अपनी 'वर्णमाला' का 'पहला अक्षर' लिखना कितना मुश्किल होता है! और फिर, वह लिख भी लिया जाए तो कहाँ आसान है, ऐसे 'सुपात्र' मिलना, जिनके बारे में भरोसा किया जा सके कि 'पढ़ लेना चाहते हैं बहुत कुछ/ और जान लेना चाहते हैं/पन्नों पर बिखरे सारे रहस्य...!' पर, कुछ भी रचने के लिए, तमाम प्रतिकूलताओं के बावजूद यह उममीद तो बनी ही रहनी चाहिए कि 'सिरजनी है ऐसी कविता/जिससे हरिहरा जाए/हमारी दोस्ती की धरती' और साथ ही, इस बात की सजगता भी कि 'महफ़ूज़ सफ़र के लिए/सीधा-सीधा चलने का मतलब यह नहीं कि आँख मूँदकर चला जाए।' इस अंक की कविताएँ कुछ ऐसे ही इशारों के साथ।

सफलता-असफलता जनित आशा-निराशा के द्वंद्व के बीच संतुलन बिठाने के लिए एक दार्शनिक हिकमत के बतौर अंग्रेज़ी का यह सूत्र हमारे सामने रख दिया जाता है- 'स्पोर्ट्समैन स्पिरिट'। लेकिन खेल के मैदान में ही नहीं, ज़िंदगी के मैदान में भी यह हिकमत अक्सर एक प्रकार का आत्मछल बन जाती है या फिर सिर्फ एक मनोवैज्ञानिक ट्रिक। इस विडंबना को दर्शाती है- कहानी 'गोल कीपर'।

Untitled-1 53 7/23/2010, 1:32 PM

सात कविताएँ

संतोष कुमार चतुर्वेदी

वर्णमाला का पहला अक्षर

जब पृथ्वी की तरह गोल-गोल सा कुछ हो लिया
अपनी एक राह पकड़ बेपरवाह सा जब चल पड़ा
फल से लदर आयी किसी टहनी सा जब झुक आया
चल पड़ा बेझिझक किसी नदी-सा जब बहता हुआ
अपने किनारों के बीच के पानी को सहेजता-संभालता
खड़े होने की जद्दोजहद में
बार-बार हुआ
उठना-गिरना, गिरना-उठना
चलने-फिरने की ज़िद में
थोड़ा-बहुत बहुत-थोड़ा लडखड़ाया
जब यादों को याद करने की लय में दोहराया
किसी मुकाम पर जब कहीं कोई मन को छू पाया
तब जाकर कहीं उच्चरित हो पाया जुबान से
तब जाकर कहीं लिख पाया लिखावट की लिपि में
अपनी वर्णमाला का पहला-पहला अक्षर

Untitled-1 54 7/23/2010, 1:32 PM

तुम्हारा होना

तुमने सिखाया
स्वछन्द आसमान में,
खुली इच्छाओं के साथ उड़ना
तुमने सिखाया
सपनों की नरम-मुलायम दूब पर आहिस्ते कदमों से गुनगुनाते हुए चलना
तुमने सिखाया
जिन्दगी के उबड़-खाबड़ रास्तों और व्यस्ततम चौराहों को
अपने हौंसले से पार करना
तुमने सिखाया
चाहत का वह नुस्खा
जिसमें दिन-रात अब मैं घुलता रहता हूँ
तुमने सिखाया
कि दूसरों को प्यार करने के पहले
खुद को भरपूर चाहो
खुद को बेपनाह प्यार करो
तुमने सिखाया
कि किस तरह कोई पराया
बनाया जा सकता है अपना
तुमने सिखाया
कि किस तरह किसी को
अपनी याद में सताया जा सकता है
मेरे होने में
तुम्हारा होना इस तरह हुआ
मेरे खोने में
तुम्हारा खोना इस तरह हुआ

Untitled-1 55 7/23/2010, 1:32 PM

उन आँखों के अक्षरों में

उन आँखों की नमी में
खिल उठे हैं
मेरी इच्छाओं के फूल
उन आखों की छुअन से
भरने लगे हैं
मेरे सूने चित्रों में रंग
और वे रंग जिनकी चुप्पी पर
बहसों का अन्तहीन सिलसिला चला करता था
अब बोलने लगे हैं
किसी बातूनी की तरह
उन आँखों के सपनों में
मैंने उगा लिये हैं अपने पंख
अपने घोसले से बाहर निकलकर
चला जाता हूँ चला आता हूँ
लांघते-फलांगते
तमाम दूरियां बीहड़ असंख्य
उन आँखों के अक्षरों में
शब्दायित होता हुआ
खुद को देखता हुआ मैं
जिसे पढ़ते हुए मन्द-मन्द मुस्कुरा रहा है
हमारे वक्त का समय
उन आँखों ने रचे हैं गीत
दुनिया के सबसे सुमधुर गीत हमारे लिए
जिसकी धुन पर अनायास हो
थिरकने लगते हैं हम
झूमने लगती है हवा
उन आँखों ने अभी-अभी एक पहेली पूछी है
पहेली के जबाव की तलाश में आकंठ डूबा हुआ

Untitled-1 56 7/23/2010, 1:32 PM

हाथ-पाँव मार रहा हूँ मैं
किसी तरकीब से मिल जाय
शायद कोई किनारा
उन आँखों ने बड़ी कारीगरी से गढ़ी है जो इमारत
उसमें खुली छोड़ रखी है खिड़कियाँ
उन खिड़कियों से बातचीत में
मशगूल रहना चाहता हूँ मैं
उन आँखों ने अपनी सुन्दर लिखावट में
लिख रखी हैं कुछ इबारतें हमारे लिए
उन इबारतों को सहेजता फिर रहा हूँ मैं
अपनी यादों की जिल्द में
बहरहाल
समस्या के किसी सागर में नहीं
आँखों के एक हरे-भरे जंगल में
भटक गया हूँ मैं इन दिनों
भटकना चाहता हूँ अनन्त काल तक
इन अपरिचित राहों पर
फिरना चाहता हूँ गुमनाम सी गलियों में
उन आँखों कें ख्वाबों को
जतन से संभाले हुए

प्रेम

अपना प्रेम
जिससे होकर छुआ मैंने
अहसासों के नम अधरों को
जिन निगाहों की गिरफ्त को
खुशी-खुशी स्वीकारा
अपना सब कुछ हारा
उसकी जीत के स्वाद को बनाये रखने के लिए

Untitled-1 57 7/23/2010, 1:32 PM

रखी चौकस नजरें उस पर
किये चाक-चौबन्द इन्तजाम
छानता रहा तमाम खबरें
जिससे जुड़ी हो वह
अपने सन्देह पर भी सन्देह किया मैंने
अपने भ्रम को भी भ्रम में डाला
अपनी गलतियों को गलत ठहराया
जैसे अपने प्रेम को प्रेम में और तड़पाया
यह प्रेम करने का अपना तरीका है हमारा
जिसे चाहते हैं हम जान से भी ज्यादा
उस पर सन्देह करते हैं भरपूर
नजदीकियों के बावजूद
रहते हैं उसी से दूर-दूर

कैसे बतलाता

कितनी गहरी चोट थी अन्दर कैसे बतलाता
किसके सम्मुख अपनी बातों का दुःखड़ा गाता
मैं तो खामोश पड़ा था यूँ ही अपनी तनहाई में
ये तो तुम्हारी आग थी जिसने
अपनी लपटों में घेर-घार कर
लोहे जैसा मुझे तपाया
दुनिया भर के सन्तापों से मुझे बचाया
बिल्कुल अपने रंग में रंगकर
मुझको टह-टह कर लाल बनाया
इसी बीच न जाने कब तुमने
सही समय आंक कर
अपनी बातों का ऐसा हथौड़ा चलाया
जैसे जिस रूप में चाहते थे तुम
मैं झुक गया

Untitled-1 58 7/23/2010, 1:32 PM

मैं मुड़ आया
मैं ढल आया
अपने सीने का सारा दुख-दर्द
बरबस ही तुमकों दिखलाया
झूठ-सच जो भी था मेरा
सब कुछ साफ-साफ तुमको बतलाया
मेरा अपना तन-मन
अपना ये जीवन
इतना सघन इतना रूखड़
दुःख से ही तो बन पाया
तुम तो एक आईना थे हमारे लिए
आईने के सामने होकर
आखिर खुद को खुद से
कैसे झुठलाता
मन में चाहत की एक हिचक थी तुम्हारे लिए
तुम्हारा जी दुःख की दुनियावी बातों से कैसे दुखलाता
कितनी गहरी चोट थी अन्दर कैसे बतलाता

हमारी दोस्ती

पुख्ता है हमारी दोस्ती की बुनियाद
शिकायतों के जितने भी बुलडोजर चलाये जाएँ
निन्दा की अनवरत गोलियाँ दागी जाएं जितनी
आलोचना का बवण्डर
चाहे सब तहस-नहस कर डाले
लापरवाह दूब की मस्ती में
झूमती रहेगी हमारी दोस्ती
अब जब कि
पुरानी भाषाएं
पुरानी परम्पराएं

Untitled-1 59 7/23/2010, 1:32 PM

और पुराने सरोकारों के पुरानेपन पर
मँडराने लगे हैं तमाम खतरे
इस खतरे को
अपनी घुरची से मात देती
बची रहेगी हमारी दोस्ती
अपने पुरानेपन के बावजूद
नयेपन की बयार बहाते हुए
बीज में एक बगीचे की
सम्भावनाएं तलाश करते हुए
पुरनिया लोग बताते हैं
कि सन्देह का कीड़ा
कुतर डालता है सारे सम्बन्धों को
सन्देह के दीमक चाट डालते हैं
बरसों-बरस के अन्तराल में
लिखी गयी किताबें
अहंकार का घुन चलनी कर देता है
देह सिरजने वाले अनाज को
उसकी सारी पौष्टिकता के साथ
फिर भी बचे रहेंगे रंग
हमारे तुम्हारे प्रेम के
घूम-फिर जब भी लौट आयेगा
फूलों के खिलने का मौसम
और...और...और...
न जाने कितने-कितने
जाने-अनजाने खतरे
पूरी ताकत के साथ सक्रिय हैं
अपना गुणा-भाग करते हुए
सारे अगर-मगर को माकूल जवाब देना है
जैसे सपनों में सजा लेते हैं हम
उम्मीदों की बन्दनवार
लेकिन नहीं भूलना है यह
कि जीवन के मानचित्र में
हमारा अपना वजूद है

Untitled-1 60 7/23/2010, 1:32 PM

अपने चेहरे और अपनी आवाज के साथ
हमारी अपनी-अपनी सोच है
एक अलग-अध्याय बनाती हुई
और हमारे अंगूठे के निशान भी तो
छोड़ते हैं अपनी अलग ही छाप
चाहे जब और जहाँ आजमा लिया जाए
लेकिन निहायत अलग-अलग परिवेश
और रंग-रूप वाले
हवा, बादल, ताप, नमी
और उमस को लेकर ही
सिरजनी है ऐसी कविता
जिससे हरियरा जाय
हमारी दोस्ती की धरती
कनखा की शक्ल में फूट आये
नाजुक-सी डाल
हमारे दोस्ती का जश्न मनाती हुई
अपनी दिशा बनाती हुई
सारे खतरों को मुँह चिढ़ाती हुई

Untitled-1 61 7/23/2010, 1:32 PM

सात कविताएँ

शैलेंद्र

सुपात्र

पढ़ लेना चाहते हैं बहुत कुछ
और जान लेना चाहते हैं
पन्नों पर बिखरे बहुत सारे रहस्य
पर पृष्ठों से गुजरते हुए
कहीं और पहुंच जाते हैं
खो जाते हैं किसी भूल भुलैया में
घबड़ा जाते हैं पराजय की आशंका से
पाने की संभावना को टूटते-बिखरते देख
थके-हारे तन-मन
सो जाते हैं आंखे बंदकर
सपने में भटकते हैं
जाने कहां-कहां
शायद वहां-वहां
जहां चाह कर भी नहीं पहुच पाते हैं
जब नींद खुलती है
खुद को कोसते हैं, पछताते हैं
बार-बार इसी क्रम को दोहराते हैं
अरमानों को सहेजना

Untitled-1 62 7/23/2010, 1:32 PM

कोई आसान काम नहीं
खुद के अनुभव से जान लेते हैं
अतृप्त जन
इस अर्जित ज्ञान को
सौंप देना चाहते हैं
हर किसी को
पर कहां मिलते सुपात्र
इतनी आसानी से

ठहाके कुछ बताते हैं

आसान नहीं होता चलना
चुपचाप, सीधा-सीधा
हालांकि यह भ्रम बना ही रहता है
कि होता है महफूज चलना अपनी राह चुपचाप
पर लगती है जब ठोकर चलते-चलते
तब जाकर पता चलता है
कि सीधा-सीधा चलना ही गारंटी नहीं
कहीं सुरक्षित पहुंचने की
देखते हुए मचलना होता है आसपास
अगल-बगल ही नहीं
पाछे मुड़कर भी देख लेना होता है
महफ़ूज सफ़र के लिए
सीधा-सीधा चलने का मतलब यह नहीं
कि आंखें मूंद कर चला जाए
असुविधा हो जाती है शरीफ लोगों को
सीधा-सीधा चलने वालों से भी
यह बताने वाली बात नहीं
कि टांगे फंसाने वालों को
मिलती है खुशी शायद तब ही

Untitled-1 63 7/23/2010, 1:32 PM

जब गिर पड़ता है कोई लड़खड़ा कर
उठ कर खड़े हो जाने
और भाग निकलने के बाद भी
पीछा नहीं छोड़ते उनके ठहाके
बताते हैं उनके ठहाके
सीधा-सीधा, चुपचाप चलते जाना ही
काफी नहीं होता महफ़ूज सफर के लिए!

ताकत है तो ....

भीतर के हों
चाहे बाहर के
इस खेमे के हों
चाहे उस खांचे के
जब भी टपकें धरती पर
टपकेंगे कहर बन कर ही
ताकत है तो सनकेंगे ही
देर-अबेर
एकत्र कर लिए गए हों
जब इतने सारे असबाब
रुलाने-कलपाने के
तो आप बस मनाते रहिए अपनी खैर
मना सकते हैं जब तक
नहीं बच सकते
कदापि नहीं
चाहे आपकी हो उनसे दोस्ती
या फिर बैर!

Untitled-1 64 7/23/2010, 1:32 PM

कुछ तो कहा

अपने जो कुछ लिखा
उसे पढ़ा
अच्छा लगा
अच्छा लगा कि आपने कुछ लिखा तो सही
आपने जो कुछ कहा
सुना उसे ध्यान से
अच्छा था या बुरा
इस पर कुछ नहीं कहूँगा
पर इतना तो कहूँगा ही
कि अच्छा लगा
अच्छा लगा कि आपने कुछ कहा तो सही
आमने अच्छा या बुरा लिखने का
कहने का जोखिम जो उठाया
इसके लिए आपका शुक्रिया
चुप्पी पर भला क्या हो सकती है प्रतिक्रिया!

इसलिए भी

चौंधिया जाती हैं
उनकी आँखें रोशनी में
और उठती हैं अंधेरे में चमक
हम जानते हैं निशाचरों को
कि उन्हें रहा है हमेशा
रोशनी से परहेज
जाहिर है, इसलिए भी
नहीं रख सकते वे
स्मृतियों को सहेज!

Untitled-1 65 7/23/2010, 1:32 PM

गोलकीपर

प्रियदर्शन मालवीय

(1)

'गोलकीपर का टास्क बहुत चैलेजिंग होता है, बहुत धैर्य का काम है, वैसे ही जैसे रोटी सेंकना, विलंबित संगीत की संगत करना या चित्र बनाना। इसमें चीते की तरह चौकन्ना रहना होता है। जरा सी चूक हुई नहीं कि हुआ बंटाधार, जरा सी आँख झपकी नहीं कि हुआ गोल। यह एक साधना है जिसमें जबरदस्त एकाग्रता की आवश्यकता होती है। गोलकीपर का अपना कोई खेल नहीं होता। कोई फास्ट फारवर्ड खेल रहा है, तो कोई शॉट मार रहा है, कोई कवर ड्राइव तो कोई पेनाल्टी कार्नर। पर गोलकीपर का एक ही काम होता है, प्रहरी बनकर गोल की रक्षा करना। यह काम चाहे आप सीना तानकर पूरे गोल को घेर कर करें, चाहे झुककर आधे गोल को घेरें और आधे में अपनी स्टिक रखें, चाहे बीचो-बीच खड़े हों और दोनों साइडों को अपने चौकन्नेपन से कवर करें'—अपनी हरफ़न मौला गेम्स टीचर मिस आहूजा के शब्द आज भी मिसेज पान्ड्या को शब्दशः याद है।

गेम्स टीचर मिसेज आहूजा के हरफन मौलापन से प्रभावित होकर लड़कियाँ कहती 'मैडम आप तो कमाल की हैं, आपकी खेलों में भी वैसी ही गति है जैसी संगीत में, चित्रकला में भी आपकी उतनी ही रुचि है जितनी की काष्ठकला में,' तो वे छूटते ही अपने खास पंजाबी लहजे में जबाब देतीं 'अजी क्या कमाल है, मैं तो ठहरी जैक ऑफ ऑल ट्रेड बट मास्टर ऑफ नन। अजी, मैंने अगर इनमें से किसी भी एक चीज की मास्टरी हासिल कर ली होती तो जीवन सुधर गया होता। गेम टीचरी न करनी पड़ती, फटीचरी और गेम टीचरी में ज्यादा अन्तर नहीं होता।'

गेम्स टीचर ने कहना जारी रक्खा, 'सारे खिलाड़ी पूरे मैदान में चहल कदमी करते हैं, एक कोने से दूसरे कोने तक दौड़ते रहते हैं, मगर गोलकीपर अपनी जगह से हिल नहीं सकता,

Untitled-1 66 7/23/2010, 1:32 PM

अंगद की तरह पाँव जमाकर एक ही जगह पर खड़े रहना पड़ता है। सारे खिलाड़ी खेल में थोड़ी बहुत गलती करते रहते हैं, उसकी नोटिस कोई नहीं लेता, मगर गोलकीपर ने जरा सी गलती की नहीं कि लोग अंगुली उठा देंगे, ताने देंगे कि गोलकीपर बहुत सुस्त था, जरा चुस्त होता तो गेंद को रोक लेता और गोल होने से बच जाता'— मिसेज पान्ड्या अपने पुराने दिनों की याद करते हुये अपना काम करती जा रही हैं। काम में उनका मन नहीं लग रहा है वे सोचे जा रही हैं।

सुबह पिता और पुत्र के बीच हुई कहासुनी ने उनके मन को खिन्न कर दिया है। उनकी पीड़ा दोहरी है, एक तो पति और पुत्र के बीच कहा सुनी हई है, दूसरे पति कभी भी उन्हें टारगेट बनाकर कह सकते हैं, 'सब तुम्हारी ही परचायी माया है, यही तुमने सिखाया है अपने बच्चों को। कोई मैनर नहीं है, पिता को कुछ समझते ही नहीं हैं मुझे तो एकदम जाहिल समझते हैं मगर अपने को 'आलिम-फाजिल।' मिसेज पान्ड्या का मन तो होता है कि वह कह दें कि 'बच्चा क्या सिर्फ मेरा है? तुम्हारा इसमें कोई योगदान नहीं है? सच तो यह है कि यह तुम्हारी ही कार्बन कापी है, तुम्हारे ही गुण और दोष पाये हैं इसीलिये उसमें गुण कम और दोष अधिक है। तुम्हारा ही स्वभाव पाया है, वही जिद्द, वैसी ही ऐंठन और वैसे ही बद्धमूल संस्कार है। मेरे ऊपर ऐंठ चल गयी, मगर लडके पर नहीं चल पा रही है, इसीलिये परेशान हैं। अब आया है, ऊँट पहाड़ के नीचे', मगर मिसेज आहूजा कुछ कहती नहीं और बरका जाती हैं, जानती हैं कि फिर नये सिरे से पवांड़ा खड़ा हो जायेगा।

गोलकीपर की जरा सी चूक पूरे खेल को ही नहीं, बल्कि पूरे जीवन को प्रभावित कर सकती है, इसका अन्दाजा मिसेज आहूजा से ज्यादा किसे होगा, 'लम्हों ने खता की है, सदियों ने सजा पाई है'। वह लम्बा आजीवन नहीं भूल सकती जब उनसे गोल छूटा था। इस चूक का उन्हें आज तक खमियाजा उठाना पड़ रहा है।

(2)

शहर के कई कालेजों को हराने के बाद क्रास्थवेट कालेज से उनका फाइनल पड़ा था। उनके अपने कालेज डी.पी.गर्ल्स की टीम की भी हाकी में बड़ी ख्याति थी। शहर में जो खेल के शौकीन थे वे जानते थे कि टाई एकदम बराबरी की पड़ी है, दोनों टीमों में कोई भी जीत सकता है। दोनों ही टीमें अव्वल थीं, यह खेल से साफ पता चल रहा था। खेल अपने क्लाइमेक्स पर था, दोनों टीमों के बीच नेक टू नेक फाइट चल रही थी। दोनों टीमों ने दो-दो गोल मार लिया था, दो घण्टे के खेल में हार-जीत का निर्णय नहीं हो पाया तो यह तय किया गया कि दोनों टीमों को गोल मारने के लिये पाँच-पाँच मौके दिये जायें।

मिसेज आहूजा याद करती हैं कि क्रास्थवेट कालेज की गोलकीपर ने पाँचो शॉट बखूबी रोक लिये और गोल नहीं होने दिया। फिर उनकी टीम की पारी आयी, अब शॉट क्रास्थवेट

Untitled-1 67 7/23/2010, 1:32 PM

कालेज की टीम को मारना था और शॉट उनकी टीम डी.पी.गर्ल्स को यानि कि उन्हें ही रोकना था। क्रास्थवेट कालेज की टीम द्वारा पॉचों गोल रोक लिये जाने के कारण उनकी टीम में मायूसी छा गयी, क्योंकि उनकी टीम की हार होने की प्रबल आशंका हो गयी थी। मिसेज आहूजा ने याद किया कि चार शॉट उन्होंने बड़ी तत्परता से रोके, जैसे-जैसे वे शॉट रोकतीं माहौल में उत्तेजना बढ़ती जाती। पाँचवें शॉट तक उत्तेजना अपने चरम पर थी, ऐसा लग रहा था दो टीमें खेल नहीं रहीं, बल्कि दो देश की सेनायें युद्ध लड़ रहीं हों। कमेन्टेटर के चैलेजिंग वर्ड्स, उनकी विरोधी टीम के पक्ष में दर्शक दीर्घा से बज रही तालियाँ, चारों ओर से हिप-हिप हुर्रे की आ रही आवाजें, उनकी टीम की मायूसी—उनके आत्म-विश्वास को हिला रहीं थीं, उनके पॉव काँप रहे थे। उनकी ओर पूरी टीम की उम्मीद लगी थी। उन्हें अपने महत्वपूर्ण होने का आभास होने लगा। वे अतिरिक्त सजग हो गयीं। आखिर यह उनके लिये जीवन मरण का प्रश्न था। वे अन्तिम शॉट रोकने के लिये एकदम तैयार थीं कि तभी उनके हाथ में मच्छर बैठ गया, उन्होंने मच्छर मारने के लिये हाथ ऊपर उठाया और उनकी एकाग्रता भंग हुयी, ठीक उसी समय क्रास्थवेट कालेज की टीम की कैप्टन ने शॉट मारा, वे शॉट नहीं रोक पायीं और गोल हो गया। उनकी टीम हार गयी, और उसमें कोहराम मच गया।

'यह क्या कर दिया तूने कृष्णा (उस समय तक वह मिसेज पान्ड्या कृष्णा देशपाण्डे थीं) तूने तो एकदम से हमारी लुटिया ही डुबो दी'— गेम्स टीचर ने सिर्फ इतना ही कहा और वही दर्शक दीर्घा की सीढ़ियों में सिर पकड़कर बैठ गयी। वे न जाने कब तक यूँ ही बैठी रहती यदि विपक्षी टीम की गेम्स टीचर्स ने आकर ये न कहा होता, 'कोई बात नहीं मिसेज आहूजा खेल में ये तो यह चलता ही रहता है हार और जीत तो सिक्के के दो पहलू हैं। खिलाड़ी में खेल भावना का होना बहुत जरूरी होता है। किसी न किसी की हार तो होती ही है, वह हमारी भी टीम हो सकती थी। चलिये उठिये।' 'बड़ा लेक्चर पिला रही हैं, गेम की फिलासफी समझा रही है, गोया मैं समझती नहीं, जले में नमक छिड़क रही है,' गेम्स टीचर मिसेज आहूजा ने मन ही मन कहा मगर स्पष्ट में सिर्फ 'कोई नहीं, कोई नहीं (कुछ नहीं, कुछ नहीं) इतना ही कहा। इतना कहकर उसने उन्हें (मिसेज आहूजा) हाथ पकड़कर उठाने की कोशिश की। मिसेज आहूजा खुद ही उठ गयीं 'ऐसी कोई बात नहीं है, मेरे सर में दर्द पहले से ही हो रहा है,' और यह कहकर वे वहाँ से हट गयी।

'ओह गाड। यह क्या हो गया, ओफ वेरी डिस्गास्टिंग, मुझे जिस बात का डर था वही हुआ, मैं जान रही थी कि तू लुटिया डुबोयेगी, क्योंकि तुझमें सेल्फ कान्फिडेन्स का लेबिल बहुत नीचा है तू वैसे तो अच्छा खेलती है, पर चैलेन्ज को नहीं झेल पाती। ऐसे समय तू ओवर काशस हो जाती है— टीम की कैप्टन रागिनी ने कहा था।

''कैसे हो गया?''

'तुम एलर्ट नहीं थीं क्या?'

'तू रहते-रहते ट्रांस में क्यों चली जाती है?'

'तुझसे कितनी बार कहा कि कम से कम खेल के समय तो एलर्ट रहा कर'

'तूने हमारी नाव एकदम किनारे पर लाकर डुबो दी,

Untitled-1 68 7/23/2010, 1:32 PM

'हम सभी का कैरियर एकदम से ब्लाक कर दिया'— गेम्स टीचर, कैप्टन और उसकी सहेलियां न जाने क्या-क्या कह रहीं थीं, इसकी तरफ मिसेज आहूजा का ध्यान ही नहीं गया, वह तो स्वयं अपनी आत्म-ग्लानि में ही घुली जा रही थीं। उनका अपराध बोध उन्हें कचोट रहा था। वे एकदम शान्त और निस्तब्ध थीं। 'गनीमत है किसी ने यह आरोप नहीं लगाया कि मैं विपक्षी टीम से मिली थी, वर्ना आज का माहौल होता तो यह आरोप लगने में जरा भी न लगती'— मिसेज पान्ड्या मन ही मन बुदबुदायीं।

और इस चूक का जो दूरगामी परिणाम हुआ, उसके दंश को मिसेज आहूजा आज भी झेल रही हैं। जिस गेम्स में उनसे चूक हुई थी, वह जिले स्तर का मैच था। जीतने के कारण क्रास्थवेट का क्वार्टर फाइनल सहारनपुर की टीम से पड़ गया, यह टीम बहुत कमजोर थी, क्रास्थेवेट ने उसे बहुत आसानी से हरा दिया था। सहारनपुर की टीम को हराने के बाद क्रास्थवेट का सेमी फाइनल बिहार की टीम से पड़ गया। बिहार की टीम भी बहुत कमजोर थी, क्रास्थवेट ने उसे भी बहुत आसानी से हरा दिया और क्रास्थवेट की टीम फाइनल में पहुँच गयी, यानि नेशनल खेलने का तमगा उसे मिल गया। उनकी टीम इस सौभाग्य से वंचित रह गयी जबकि यह सभी मानते थे कि उनकी टीम क्रास्थवेट की टीम से थोड़ी अच्छी थी।

'काश, ऐसा न होता, काश उनकी टीम जीत जाती।' यह हार उनके गेम्स कैरियर के ताबूत की आखिरी कील साबित हुआ। आज भी इसे याद करके मिसेज पान्ड्या गहरी साँस लेती हैं।

इस मैच के तीन दिन बाद गेम्स टीचर मिसेज आहूजा ने उन्हें (मिसेज पान्ड्या) को अपने पास बुलाया और उन्हें उनके नाम से सम्बोधित करते हुय कहा, 'कृष्णा तुम अब इस टीम में नहीं खेलोगी तुम्हारी जगह नलिनी अरोरा खेलेगी।'

'क्यों मैडम?' ऐसा वे क्यों कर रही हैं, यह जानते हुय भी मिसेज आहूजा ने पूछ ही लिया।

नलिनी अरोरा गेम्स टीचर की भतीजी थी और वे बहुत दिनों से उसे टीम में लाने की जुगाड़ में थी, मगर मिसेज पान्ड्या, का गेम अच्छा होने के कारण वे उन्हें निकाल नहीं पा रही थीं। 'बिल्ली के भाग से छींका टूटा' — वे (मिसेज पान्ड्या) बुदबुदायी थीं।

'क्या यह भी बताना पड़ेगा?' गेम्स टीचर ने मिसेज पान्ड्या की तरफ प्रश्न सूचक दृष्टि से देखा था।

'जी मैडम' — वे (मिसेज पान्ड्या) बोली थीं।

'क्या तुम भूल गयीं, हाऊ पुवर यू प्लेड इन द लास्ट मैच। इट वाज सो पुवर दैट नो बडी इक्सपेक्टेड इट फ्राम यू। यू आर सच ए सीनियर एण्ड सीजेन्ड प्लेयर ऑफ आवर टीम, बट यू प्लेड वेरी बैड'— वे धारा प्रवाह अंग्रेजी में बोल रहीं थीं, वे अपनी अंग्रेजी का रोब भी झाड़ रहीं थीं। गेम्स टीचर की यह खास अदा थी कि जब उन्हें रोब झाड़ना होता था तो वे अंग्रेजी बोलने लगती थीं। उनकी नजर में दूर-दूर तक ऐसी कोई गेम्स टीचर नहीं थी जो उनकी तरह अच्छी एवं फर्राटेदार अंग्रेजी बोल सकती थी।

'मैडम इट वास जस्ट ए चांस'— मिसेज पान्ड्या भी अंग्रेजी में ही बोली थीं।

Untitled-1 69 7/23/2010, 1:32 PM

'यह कोई क्रिकेट का खेल थोड़ी न था कि बाइचांस कहने से काम चल जायेगा। इट वाज़ ऐ ग्रास नेगलिजेन्स आन योर पार्ट, इट वाज हाइट ऑफ नेगलिजेन्स'— गेम्स टीचर ने कहा था।

'प्लीज मैडम'— मिसेज पान्ड्या सिर्फ इतना ही बोल पायीं।

'आइ कांट एफोर्ड, तुमने तो कालेज की नाक एकदम से कटवा दी है' — गेम्स टीचर ने कहा।

अन्ततोगत्वा मिसेज पान्ड्या कालेज की हाकी टीम से हटा दी गयीं। मिसेज पान्ड्या की यह बचपन की आदत है कि वे अपने साथ किये जा रहे अन्याय का ज्यादा प्रतिरोध नहीं कर पाती और यही बात मिसेज पान्ड्या में आज भी कायम है। उन्हें कभी-कभी अपने व्यक्तित्व पर बड़ी कोफ्त होती है। कितना कमजोर व्यक्तित्व है उनका। एसर्ट करना तो बिल्कुल जानती ही नहीं, प्रतिरोध के नाम पर जीरो है उनका व्यक्तित्व।

हाकी टीम से निकाली गयी तो खुलकर प्रतिरोध नहीं किया, घरवालों ने उनकी इच्छा के खिलाफ उनकी पढ़ाई छुड़वा दी तब भी उन्होंने विरोध नहीं किया, उनकी इच्छा के विरुद्ध उनकी शादी कर दी गयी तब भी वे कुछ नहीं बोली। यदि मिसेज पान्ड्या से उनकी च्वाइस ली गयी होती तो वे निश्चय ही इस आदमी से शादी के लिये हामी न भरतीं। क्योंकि वे उसके खड़ूसपन को पहली नजर में ही भाँप गयीं थीं। यह आदमी न सिर्फ बदसूरत है, बल्कि इसका पूरा व्यक्तित्व ही उजबक टाइप का लगता है। कभी पैन्ट के ऊपर कुर्ता पहन लेगा कभी पैजामे पर बुश्शर्ट, कभी बड़े-बड़े बाल रख लेगा तो कभी एकदम छोटे-छोटे बाल कर लेगा, एकदम मिलेट्रीकट। दाढ़ी अक्सर बढ़ी रहती है, खिचड़ी दाढ़ी, पूरे व्यक्तित्व को खिचड़ी बना देती है। च्वाइस उनसे ली नहीं गयी और प्रतिरोध उन्होंने किया नहीं। प्रतिरोध करने के कारण उनकी कई सहेली कहाँ से कहाँ पहुँच गयीं।

रागिनी मिश्रा आज मिलेट्री में कैप्टन है, जूही सक्सेना बैंक में आर.एम. है और शालिनी कथूरिया आज देश भर में हाकी की खिलाड़ी के रूप में जानी जा रही है, तो अपने इसी गुण के कारण। रागिनी मिश्र के घर वाले उसे एन.सी.सी. ज्वाइन करने के लिये मना कर रहे थे। घर वालों का तर्क था कि इससे पढ़ाई पर असर पड़ेगा, मगर रागिनी मिश्रा ने घर वालों से लड़-भिड़कर एन.सी.सी. ज्वाइन किया, वहाँ उसकी परफारमेन्स अच्छी थी। बाद में उसने अंग्रेजी से फर्स्ट क्लास में एम.ए. किया। फर्स्ट क्लास एन.सी.सी. कैडेट होने तथा फर्स्ट क्लास अंग्रेजी में एम.ए. के कारण ही सिर्फ ग्रुप डिस्कशन एवं इन्टरव्यू के आधार पर ही उसका मिलेट्री में सेकेण्ड लेफ्टिनेंट में सेलेक्शन हो गया था और आज वह मेजर के पद पर हैं।

जूही सक्सेना का इण्टरमीडिएट में थर्ड डिवीजन आ गया था। इसलिये उसके घर वाले उसे आगे नहीं पढ़ाना चाह रहे थे, मगर जूही की आगे पढ़ने की इच्छा थी। घरवालों का कहना था कि वह आगे प्राइवेट पढ़े। मगर जूही अड़ गयी और कहा कि यह उसकी पहली गलती है और इसकी उसे इतनी बड़ी सजा न दी जाये। घर वालों ने उसकी पढ़ाई पर नाहक पैसे खर्च करने से मना कर दिया तो उसने कहा, वह घर में छोटे बच्चों को ट्यूशन पढ़ाकर पढ़ाई का

Untitled-1 70 7/23/2010, 1:32 PM

खर्च निकाल लेगी। फिर भी जब घर वाले नहीं माने तो उसने फाँसी लगाकर मर जाने की धमकी दी। अन्त में घर वालों को झुकना पड़ा। जूही ने ग्रेज्यूएशन और पोस्ट ग्रेजुएशन फर्स्ट क्लास में किया और फिर बैंक प्रोवेशनरी आफिसर का टेस्ट निकाला और आज वह बैंक में रीजनल मैनेजर है।

शालिनी कथूरिया की मिलिटेन्सी तो उन्हें आज भी रोमाञ्चित करती है। शालिनी कथूरिया को भी उनकी तरह एक मैच में खराब खेलने के कारण बाहर निकाला गया तो उसने जम के लड़ाई लड़ी। पहले तो वह बड़े प्रेम से गेम्स टीचर को मस्का लगाती रहीं। वह किशोर कुमार की स्टाइल में 'मेरी प्यारी मैडम, मेरी न्यारी मैडम, बीच भंवर में मेरी नइया डूबे, मेरी प्यारी मैडम' गा-गाकर डांस करके गेम्स टीचर को रिझाने लगी, वहाँ उपस्थित सभी लोग हंसने लगे, मगर गेम्स टीचर टस से मस नहीं हो रही थीं। फिर क्या था शालिनी कथूरिया एकदम से बिफर गयी और गेम्स टीचर से कहा, 'मैडम यदि मैं टीम से निकाली गयी तो मैं तुम्हारा सर फोड़ दूंगी। मैं फिजिकल ट्रीटमेन्ट में विश्वास करती हूँ, यह तुम अच्छी तरह जानती हो।' — शालिनी के गुस्से को देखकर और उसकी तू-तड़ाक से 'स्नाब' गेम्स टीचर बहुत लाल-पीली हुईं और कहा 'मैं देखती हूँ कि तुम कैसे टीम में खेलती हो।'

'तुम कुछ नहीं देख पाओगी मुझे टीम में खेलने से कोई ताकत नहीं रोक सकती' — शालिनी ने बड़े चैलेन्जिंग टोन में कहा था।

बात प्रिन्सिपल के पास तक गयी, प्रिन्सिपल ने भी गेम्स टीचर का फेवर किया। तब उसने अपने वकील पिता से (जो कचहरी में वकील थे) कहकर प्रिन्सिपल को कोर्ट का नोटिस भिजवाया। कोर्ट का नोटिस पाकर तो प्रिन्सिपल के हाथ के तोते उड़ गये। अन्त में उन्हें शालिनी को टीम में शामिल करना पड़ा। फिर तो शालिनी जो चमकी तो अभी तक चमक रही है।

मिसेज पान्ड्या को आज भी इस बात का बहुत मलाल है कि यदि उनके घरवालों ने इसमें जरा भी रुचि ली होती तो वे टीम से न निकाली जातीं। उनके घरवाले नहीं चाहते थे कि मिसेज पान्ड्या हाकी खेलें। जिस परिवार से मिसेज पान्ड्या आती हैं उसके अनुसार लड़कियों के जीवन का आदर्श, 'पढ़िये गीता/बनिये सीता/फिर इन सब में लगा पलीता/किसी मूर्ख की बन परणिता/निज घरबार बसाइये/होय कटीली/अखियां गीली/घर की सबसे बड़ी पतीली/भर-भर भात पसाइये' — ही होता है। इन परिवारों में लड़कियों के लिये खेल आदि का कोई कॉलम नहीं होता। लड़कियों के लिये खेल भी कोई कैरियर है? अपने शौक के लिये दो चार साल खेल लिया, बहुत है। मिसेज पान्ड्या ने याद किया कि उन्हें अभ्यास के लिये जाने में कितनी दिक्कतों का सामना करना पड़ता था, क्या घर? क्या बाहर? हर मोर्चे पर उन्हें कितना जूझना पड़ता था। सलवार पहनकर हाकी खेलने में कितनी दिक्कत होती थी, लड़कियाँ भद्द-भद्द गिरती थीं। तो गेम्स टीचर ने आदेश किया था कि सभी लड़कियाँ सलवार की जगह हॉफ पैन्ट पहन कर आयेंगी, जो लड़की हॉफ पैन्ट पहनकर नहीं आयेगी उसे खेलने नहीं दिया जायेगा। वे हॉफ पैण्ट पहनकर और स्टिक लेकर अभ्यास के लिये घर से निकल ही रहीं थीं कि उनके बड़े भाई ने कोहराम मचा दिया था। उसने कहा, 'इस तरह की ड्रेस पहनकर

Untitled-1 71 7/23/2010, 1:32 PM

निकलेगी तो हमारी नाक नहीं कट जायेगी? गली के लड़के कमेन्टस करेंग, इसे पहनकर निकलने की जरूरत नहीं है उसने हुकुम दिया था।' तब माँ ने बीच का रास्ता निकाला और कहा 'तू हॉफ पैन्ट के ऊपर सलवार पहन ले, बेटा।' उन्होंने ऐसा ही किया।

घर से निकलती तो रास्ते भर लड़के कमेन्ट्स करते। एक कमेन्ट तो उन्हें आज भी याद है 'बाप ने तो कभी गिल्ली-डंडा भी नहीं खेला और बिटिया चली है हाकी खेलने, वही मसल है कि बाप मर गये अँधियारे में और बिटिया का नाम पॉवर हाउस।' जब प्रैक्टिस किया करतीं थीं तो बगल के कालेज के लड़के आकर उत्पात किया करते, न सिर्फ नागवार कमेन्टस करते, बल्कि बुरी तरह छेड़ा करते। अन्त में परेशान होकर एक दिन सभी लड़कियाँ लड़कों से भिड़ीं और खूब भिड़ीं। सारे शहर में इसकी चर्चा रहीं।

मिसेज पान्ड्या याद करती हैं कि टीम से निकाले जाने के बाद उन्हें अपनी जिन्दगी नीरस लगने लगी थी। वे मरगिल्ली गाय की तरह या टूटे हुये तारों वाले सितार की तरह या सूखी लौकी की बतिया की तरह सूखकर काँटा हो गयीं थी। मगर परिवारों में लड़की के दुबले होने या सूखते चले जाने की कौन परवाह करता है। हाँ, लड़की थोड़ी मोटी हो जाये तो जरूर चिन्ता की बात होती है, क्योंकि उसकी शादी में दिक्कत होने की आशंका रहती है।

(3)

'इस छोटी से चूक ने मेरे जीवन की लाइन एण्ड लेन्थ ही बदल दी' — मिसेज पान्ड्या बुदबुदायीं। 'अगर मैं गोल रोक लेती तो सम्भव है मेरी टीम वह मैच जीत लेती, तब मैं निश्चय ही नेशनल तक खेलती, क्योंकि सहारनपुर और बिहार की कमजोर टीमों से क्रास्थवेट कालेज का जो टाई पड़ा था, वह मेरी टीम से पड़ता। तब इस आधार पर कहीं न कहीं कोई नौकरी मिल जाती और तब क्या मैं इस तरह हाउस वाइफ होकर यूँ चूल्हा फूँक रही होती, मैं भी कहीं नौकरी कर रही होती। अब ऐसी चूक नहीं होने दूँगी। यह चूक शायद पिछली चूक से ज्यादा बड़ी साबित हो सकती है', उन्होंने मन ही मन सोचा।

'मुझे इस सम्बन्ध में कुछ करना चाहिए, मुझे पिता और पुत्र के बीच पैच-अप करने के लिये कुछ न कुछ जरूर करना चाहिए' उन्होंने संकल्प किया।

'आखिर तो घर-परिवार मेरा ही है, मुझे ही इसे बचाना है।— परिवार मूलतः स्त्री का होता है स्त्री ही परिवार का केन्द्र बिन्दु होती है परिवार उसके ही इर्द-गिर्द घूमता है' मिसेज पान्ड्या को दादी द्वारा कहे गये ये शब्द याद आये।

'मिस्टर पान्ड्या का क्या है? उनका अपना पूरा संसार है, पद है, प्रतिष्ठा है, सत्ता है, और है उनका बहुत भारी भरकम अहंकार। उनका अहंकार तो इतना बड़ा है कि बड़े-बड़े हार मान जायें। मिस्टर पान्ड्या तो घर के बाहर की दुनिया में रम जायेंगे और ऊपर से ताना भी देंगे कि तुमने अपने बच्चे को बिगाड़ रक्खा है, गोया सारी बुराइयों की जड़ मैं ही हूँ। बच्चा

Untitled-1 72 7/23/2010, 1:32 PM

अच्छा काम करेगा तो मिस्टर पान्ड्या बड़े गर्व से कहेंगे कि आखिर तो मेरा बच्चा है और जब कोई शिकायत वाला काम करेगा तो कहेंगे कि तुमने क्या संस्कार दिये हैं अपने बच्चे को। मीठा-मीठा गप और कड़ुआ-कड़ुआ थू। इस आदमी की जिद और अड़ियल पन के कारण ही मेरा बड़ा बेटा हाथ से निकल गया'—मिस्टर पान्ड्या बुदबुदाती हैं। बड़े बेटे की याद आते ही उनके सीने में बड़ा भयंकर दर्द होने लगा, वे सीना दाबकर थोड़ी देर बैठी रहीं हैं। बड़े लडके की याद इतनी तीव्र थी कि उन्हें लगा कि उनका सीना फट जायेगा। भड़भूजे की धौंकनी की तरह उनकी साँस बड़ी तेज-तेज चलने लगी। 'लड़के ने कोई इतनी बड़ी गलती नहीं कर दी थी कि उसे माफ ही नहीं किया जा सकता था, सिर्फ उसने प्रेम विवाह ही तो किया था' — मिसेज पान्ड्या बुदबुदायीं।

मिस्टर पान्ड्या का यह कहना 'मैं प्रेम विवाह का विरोधी नहीं हूँ, मैं विरोधी हूँ एक अमेरिकी महिला से प्रेम विवाह करने का। इस सोच का कि विवाह करने पर अमेरिका की नागरिकता मिल जायेगी। क्या जरूरत है उस देश की नागरिकता प्राप्त करने की? क्या अमेरिका स्वर्ग है?'— सही है मगर इसका यह अर्थ तो नहीं है कि लड़के से हमेशा का नाता तोड़ लिया जाये। उनकी आँखे छलछला जाती हैं, मन होता है खुलकर इतना रोयें कि आकाश-पाताल फट जाये। मगर वे अपने को संयत करती हैं क्योंकि यह समय बहुत भावुक होने का नहीं दृढ़ होने का है, अपनी भावुकता पर नियंत्रण रखने का है।

ऐसा नहीं है कि पिता पुत्र में झगड़ा पहली बार हुआ हो, पहले भी दोनों में खूब झगड़ा होता था, मगर इस बार स्थिति कुछ भिन्न है अभी तक लड़का ही झुकता आया था, वह बेरोजगार था— कुछ अपनी आवश्यकताओं के चलते और कुछ इस बात के डर से कि पिता तुरन्त ताना देंगे, 'और किसी लायक के तो हो नहीं सिर्फ झगड़ने के' — लड़का बहुत कुछ एवायड कर जाता था। मगर अब स्थिति बदल गयी है, लड़का बड़ा हो गया है नौकरी करता है, उसका अपना स्ट्रेटस है। मगर मिस्टर पान्ड्या को कौन समझाये? समझने की कोशिश ही नहीं करते, अभी भी अपनी हो जोते रहते हैं, हमेशा अपनी ही चलाते रहते हैं। वैसे तो खूब ज्ञान बघारेंगे कि लड़के जब बड़े (सोलह साल के) हो जायें तो उन्हें मित्र मानना चाहिए फिर कहावत कह देंगे 'वर्षे सोडषे प्राप्ते पुत्रान मित्र वदाचरेत। बहुत पाखण्डी है यह आदमी'— मिसेज पान्ड्या बुदबुदायी।

'बड़े-बड़े सिद्धान्तों की बात करेगा, गोष्ठियों में स्त्री-विमर्श की बात करेगा, स्त्री स्वतंत्रता की बात करेगा, 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता,' गोष्ठियों में इसका तकियाकलाम होता है, मगर घर में बीबी को नौकरानी से भी बदतर रक्खेगा। परिवार को हमेशा अपने साम्राज्य की तरह देखा और परिवार के सदस्यों को रियाया और खुद को बेताज बादशाह। मगर मुझे हमेशा दासी या परिचायिका ही समझा, रानी का नहीं नौकरानी का दर्जा दिया। इसके व्यक्तित्त्व के दोहरेपन के बोझ को मुझे ही झेलना पड़ता है'— मिसेज पान्ड्या बुदबुदाये चली जा रही थीं।

'आज मैं बुदबुदा बहुत रही हूँ'— मिसेज पान्ड्या फिर बुदबुदायीं।

'बुदबुदाना दो बातें दर्शाता है, पहला बुदबुदाने वाला चरित्र मीक कैरेक्टर (कमजोर

Untitled-1 73 7/23/2010, 1:32 PM

चरित्र) है, वह जल्दी खुलकर विरोध नहीं करता, अपने अन्दर ही अन्दर घुटता रहता है। दूसरा यह इस बात का भी लक्षण है कि बुदबुदाने वाले के भीतर कुछ सुलग रहा है जो कभी भी दावानल का रूप ले सकता है।

'मीक कैरेक्टर जल्दी बर्स्ट नहीं करता, मगर जब बर्स्ट करता है तो फिर बड़े भयंकर रूप में बर्स्ट करता है, एकदम ज्वालामुखी की तरह फटता है। जैसे कि दास्त्योवोस्की के चरित्र-मनोविज्ञान की मैडम ने एक बार मीक कैरेक्टर के बारे में बताते हुये कहा था।

'तो क्या मैं मीक कैरेक्टर हूँ—

'आफ़कोर्स'

'तो क्या मैं बर्स्ट करने जा रही हूँ'—

'हो सकता '

'या खुदा ऐसा न हो, यदि मैं बर्स्ट कर गयी तब तो बड़ी आफ़त हो जायेगी, सब कुछ हमेशा के लिये नष्ट हो जायेगा।'

'इस मर्द में इतना माद्दा नहीं है कि यह विरोध को झेल पाये, यह कोलैप्स कर जायेगा।'

'हार्ट का पेशेन्ट पहले से ही है, इतना बड़ा झटका इसका दिल नहीं झेल पायेगा।' — मिसेज पान्ड्या ने मन ही मन में सोचा। मिसेज पान्ड्या पुस्तक पढ़ रही हैं, मगर पुस्तक पढ़ने में उनका मन नहीं लगता।

'इतने डिमाक्रेट आदमी का इतना तानाशाह बेटा'— ' मिसेज पान्ड्या बुदबुदायीं। ससुर की याद ने मिसेज पान्ड्या के मन को भिगो दिया।

'बहुत अच्छे आदमी थे, अपनी बहुओं को हमेशा बहुमान दिया'—मिसेज पान्ड्या फिर बुदबुदायीं। उन्हें अपने ससुर की कही बात याद आने लगी, 'तुम खिलाड़ी थीं, वह भी हाकी की। यह स्किल का खेल है, क्रिकेट बाईचांस, फुटबाल बाइ फोर्स, और हाकी बाइ स्किल, उसमें भी गोलकीपर थीं। गोलकीपर और हाउस कीपर में कोई फर्क नहीं है। दोनों ही बड़ी जिम्मेदारी का काम है, दोनों ही न्यूक्लियस होते हैं। टीम का न्यूक्लियस गोलकीपर होता है और हाउस का न्यूक्लियस स्त्री (हाउस कीपर) होती है, परिवार उसी के इर्द-गिर्द घूमता है। बेटा जैसे तुम गोलकीपर की जिम्मेदारी बखूबी निभाती रही हो, वैसे ही हाउस कीपर की जिम्मेदारी भी निभाना, मेरे लड़के के घर को हमेशा बचाये रखना।' अपने ससुर के वाक्स मिसेज पान्ड्या के कान में मधुर संगीत की तरह बजने लगे।

'सारा दोष मिस्टर पान्ड्या का ही नहीं है, यह लड़का भी कम नहीं है आजकल की जनरेशन भी अजब है किसी की भी नहीं सुनती बस अपनी धुन में रहती है। मिस्टर पान्ड्या सिर्फ यही तो कहते हैं कि सादगी से रहो। ठीक है तुम्हारे पास पैसा है खर्च करने के लिये तो इसका मतलब यह तो नहीं कि उसे फलतू खर्च करो। मगर लड़का है कि हमेशा फालतू चीजें ही खरीदता रहता है, चीजें खरीदने का तो उसे नशा है, बाजार करने का पैशन है। ऐसा कोई दिन नहीं जाता जिस दिन वह कुछ न कुछ खरीदता न हो। हमारे बच्चे हमारे अपने नहीं रह गये। न जाने किस मायावी ने उन्हें हमसे छीन लिया है। हमारे बच्चे बहुत अच्छे हैं, बहुत सफल हैं, मगर वे हमारे अपने नहीं रह गये। उनकी ख्वाहिशें, उनकी पसंदगी, उनके शौक,

Untitled-1 74 7/23/2010, 1:32 PM

उनके गम और खुशी, अब कुछ भी तो ऐसा नहीं जिसे हम अपना कह सकें। हमारे आदर्श, हमारी मान्यता और हमारी परम्परायें ही नहीं, उन्हें इस देश की आवोहवा भी अब रास नहीं आती'— मिसेज पान्ड्या ने मन ही मन में कहा। 'यह चिपचिपा मौसम ओह शिट कितना हारबिल होता है, और गर्मी तो इतनी पड़ती है कि कहने क्या? नरक की आग की तरह गरम हो जाते हैं समर्स के दिन' अक्सर लड़का कहता है। मिसेज पान्ड्या मन ही मन सोच रहीं थीं कि बाहर कालबेल बजी।

मिसेज पान्ड्या ने दरवाजा खोला। दरवाजे पर काम वाली थी। काम वाली आज कई दिन बाद आयी है जब लड़का आता है तो यह अक्सर ऐसा ही करती है। दरअसल जब लड़का आता है तो काम बढ़ जाता है, एक आदमी वैसे ही बढ़ जाता है फिर मिसेज पान्ड्या चार चीजें स्पेशल बनाती हैं। इसलिये वह नागा कर देती (बंक मार देती है) और तब मिसेज पान्ड्या पड़ोस के काम वाली को पैसे देकर बुलाती हैं। मगर यदि अपनी काम वाली बढ़े हुये काम का अलग से पैसा माँगती है तो मिसेज पान्ड्या फट से मना कर देती है। यही जिच दोनों में फंसी रहती है।

मिसेज पान्ड्या आकर फिर पुस्तक पढ़ने की कोशिश करती हैं पुस्तक पड़ने में उनका मन नहीं लगता। मन रह-रहकर इधर-उधर भटक रहा है।

इनका ध्यान फिर लड़के की तरफ ही जाता है। साँझ होते ही यह बाजार जाने के लिये बेचैन होने लगता है। एक दिन घनघोर बारिश हो रही थी, बारिश रुकने का इन्तजार करने में देर हो गयी, तब तक बाजार बन्द हो चुकी थी, सिर्फ एक स्टेशनरी की दुकान खुली थी तो इसने उस दुकान से एक पेन खरीदा और तब जाकर उसे चैन आया। जब कोई वस्तु खरीदता है तो थोड़ी देर तक इसके चेहरे पर प्रसन्नता के भाव रहते हैं, वस्तु खरीदने की उत्तेजना जब तक रहती है, तब तक प्रसन्नता रहती है, मगर वस्तु खरीदते ही यह उत्तेजना शान्त होने लगती है, इसकी प्रसन्नता भी उसी अनुपात में कम होने लगती है। वस्तुयें जिस तेजी से इसकी नजर में चढ़ती हैं, उतनी ही तेजी से उतर भी जाती हैं। थोड़ी देर के सुख के लिये यह हजारों रुपये एक बार में खर्च कर देता है सैकड़ों पेन है। दर्जनों जोड़ी पैन्ट शर्ट और दसियों जोड़ी जूते चप्पल घर में अटे पड़े हैं, इधर-उधर मारे-मारे फिरते हैं। बहुत से ऐसे कपड़े पड़े हैं जिन्हें एक बार से ज्यादा इस्तेमाल नहीं किया गया होगा। इसके जीवन में वस्तुओं का महत्व आवश्यकता से नहीं क्रेज से तय होता है। महंगी वस्तु खरीदने का इसे जबरदस्त क्रेज है, सस्ती वस्तु तो इसकी नजर में चढ़ती ही नहीं। वस्तु जितनी महंगी होती है, उतनी देर तक इसकी प्रसन्नता रहती है।

दूसरी बात मिस्टर पान्ड्या को जो इसकी बुरी लगती है वह है इसकी ब्रैन्डेड वस्तुओं के प्रति क्रेज। जब तक कि कपड़े के टैग पर ब्रैन्ड का ठप्पा न हो तब तक इसका मन नहीं मानता। यह हमेशा ब्रैन्डेड वस्तु ही खरीदता है। बिना ब्रैन्ड की चीज को तो 'यह देशी या सड़क छाप कहता है।' मिस्टर पान्ड्या बस इसी बात पर नाराज होते हैं। मिसेज पान्ड्या मिस्टर पान्ड्या के शब्द याद करती हैं, 'सारी दुनिया यदि तुम्हारे लड़के की तरह हो जायें तो साधारण दुकानदार तो भूखों मर जायेंगे और ये ब्रैन्डेड वाले मुटायेंगे, सौ रुपये का माल हजार रुपये

Untitled-1 75 7/23/2010, 1:32 PM

में देंगे बस पैकेजिंग ठीक-ठाक कर देते हैं। पैकेजिंग और विज्ञापन का ही खाती हैं ये ब्रैन्डेड कम्पनियाँ।

दरअसल मिस्टर पान्ड्या और उनके लड़के के बीच केर-बेर का सम्बन्ध है। उनकी सोच में जमीन आसमान का अन्तर है मिस्टर पान्ड्या हमेशा से गांधीवादी रहे हैं, 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धान्त का हमेशा पालन करते आये हैं। लड़का बाजार का पैरोकार है पिता की सादगी को वह कंजूसी मानता है। उसका आदर्श 'ऊँचा जीवन ऊँचे लोग' हैं। उसके आदर्श गाँधी नहीं, बिल गेट, धीरू भाई अम्बानी हैं। मिस्टर पान्ड्या क्वालिटी आफ लाइफ की बात करते हैं जबकि लड़का स्टैन्डर्ड ऑफ लिविंग का पैरोकार है।

मिसेज पान्ड्या ने घड़ी में समय देखा, साढ़े चार बजे थे। जाड़े के दिन थे। साँझ ढल रही थी, धीरे-धीरे परी सी। सूरज को डूबते देखना उन्हें हमेशा से बहुत अच्छा लगता है, वे सूरज को प्रणाम करती हैं वे अक्सर ऐसा करती हैं। मिस्टर पान्ड्या अक्सर कहते भी हैं 'उगते सूरज को तो सभी प्रणाम करते हैं, मगर डूबते सूरज को प्रणाम करते हुये सिर्फ तुमको देखा।'

'जाड़े के दिन हैं थोड़ी देर में ही रात हो जायेगी और बाजार बन्द होने लगेगी। फिर गांधी आश्रम की दुकान भी तो बाजार में खोजनी पड़ेगी मैं कभी वहाँ गयी नहीं हूँ ज्यादा देर हो जायेगी तो मेट रात को बहाना करके नहीं आयेगी। उन्हें जल्दी करना चाहिए,' मिसेज पान्ड्या बुदबुदायीं। वे किताब को आल्मारी में रखती हैं जल्दी-जल्दी तैयार होकर ड्राइवर को बुलाती हैं।

बाजार में मिसेज पान्ड्या तीन दुकान देखने में ही वे थक गयीं, इस तरह के बाजार की वे आदी नहीं हैं। बाजार इतना चकाचौंध कर देता है कि आदमी एकदम से परेशान हो जाता है। एक-एक चीज के इतने ब्रैन्ड हो गये हैं कि आदमी एकदम से कन्फ्यूश हो जाता है, क्या ले और क्या छोड़े? बाजार ललचवाता है, आदमी एक का चार ले लेता है, जरूरत एक चीज की होती है, आदमी चार चीज ले लेता है। फिर ऐलन शोली की शर्ट खोजने में ही बहुत समय लग गया, वे क्या करती लड़का ऐलन शोली की ही शर्ट पहनता है। ऐलन शोली की शर्ट बड़ी मुश्किल से तीसरी दुकान में मिल पायी। घर वापस आने में देर हो गयी थी, मेट तक वापस हो गयी थी।

मेट को ड्राइवर से बुलवाया और तब तक खुद अपने लिये चाय बना लायी। मिसेज पान्ड्या ने चाय पीते समय इत्मीनान से पूरी योजना बना ली, उन्हें क्या कहना है एक बार मन ही मन में अभ्यास कर लिया। वे जानती हैं वे सरासर झूठ बोलेंगी, मगर वे क्या करें? आखिर घर को बचाने का मामला है।

Untitled-1 76 7/23/2010, 1:32 PM

(4)

मिसेज पान्ड्या इन्तजार करते थक गईं। पति आकर सो गये थे, मगर लड़का अभी नहीं वापस आया था। मिसेज पान्ड्या ने समय देखा दस बज चुके थे, दस बजना इस घर के लिये बहुत बड़ी बात होती है। 'दस बजे सभी काम खत्म हो जाने चाहिए और घर का हर सदस्य अपने बिस्तर पर चला जाये' ऐसा स्टैण्डिंग आर्डर है, घर के मालिक मिस्टर पान्ड्या का। पढ़ाई भी करनी है तो सुबह जल्दी उठकर करो।'

'इतनी देर तो यह लड़का कभी नहीं करता, आज क्यों इतनी देर कर रहा है।'

'घर से मूड ऑफ करके गया है तो बाहर दोस्तों के साथ मूड़ फ्रेश कर रहा होगा, देर तो लगेगी ही, फिर दस बजना आजकल के हिसाब से कौन बहुत देर है। आज कौन 'अर्ली टु ब्रेड एण्ड अर्ली टु राइज' सिद्धान्त का पालन करता है आज का आदमी तो कहता है 'रात अपनी है।' ये मिस्टर पान्ड्या ही हैं जो इसको लेकर बहुत सेनसिटिव हैं'— मिसेज पान्ड्या मन ही मन यह सब सोच रहीं थीं कि काल बेल बजी। बाहर बब्लू (लड़का) था।

'बड़ी देर कर दी बेटा'— मिसेज पान्ड्या ने पूछा।

'हाँ, ममा, थोड़ी देर हो गयी, दरअसल कई बहुत पुराने दोस्त मिल गये थे, पुरानी बातें छिड़ गयीं तो समय पता ही नहीं चला'— लड़के ने कहा।

'ऐसा तो होता ही है, बेटा जब चार लोग मिलते हैं तो समय का कहां पता चलता है' मिसेज पान्ड्या ने कहा। थोड़ी देर चुप रही फिर खुद ही कहा, 'तुम्हारा इन्तजार करके तुम्हारे पापा सो गये, तुम तो जानते ही हो कि वे समय के कितने पंचक्युअल हैं।'

ऊपर से तो उसने सिर्फ 'हाँ' कहा मगर मन ही मन कहा, 'इसीलिये तो सभी उन्हें मिस्टर पक्टीलियस कहते हैं।'

'चाय पियोगे क्या?' मिसेज पान्ड्या ने पूछा।

'नहीं ममा अब बस सोऊँगा' — लड़के ने कहा।

'दो मिनट रुको बेटा, अभी आती हूँ, तब तुम अपने कमरे में जाना' — कमरे की तरफ जाते हुये बब्लू से मसेज पान्ड्या ने कहा।

लड़का वहीं ठिठक कर खड़ा हो गया। बहुत जल्द ही मिसेज पान्ड्या वापस आ गयीं उनके हाथ में एक पैकेट था, पैकेट में ऐलन शोली की शर्ट थी।

'लो बेटा यह शर्ट तुम्हारे पिता तुम्हारे लिये लाये हैं, सुबह की घटना के लिये वे खेद व्यक्त कर रहे थे, कह रहे थे 'मुझे न जाने क्या हो जाता है, कभी-कभी। न चाहते हुये भी उल्टा-सीधा बोल जाता हूँ'—मिसेज पान्ड्या झूठ बोलीं।

लड़के को बहुत आश्चर्य हुआ कि आखिर पापा ने सॉरी कैसे कह दिया। इतना इगोइस्ट मैन अपनी गलती मान ले। इतना बड़ा आश्चर्य, मगर अब माँ कह रहीं हैं तो सही ही होगा, माँ झूठ थोड़ी ही बोलेगी'— लड़के ने मन ही मन में कहा।

Untitled-1 77 7/23/2010, 1:32 PM

(5)

प्रतिदिन की भाँति मिस्टर पान्ड्या अलस्सुबह ही उठ गये, बर्तन गिरने की आवाज से मिसेज पान्ड्या की भी नींद खुल गयी। फिर भी वे रजाई में पड़ी रहीं। 'यह आदमी न सोता है न सोने देता है, बड़ा ईढ़ी है, खुद को नींद नहीं आ रही है तो दूसरे को भी नहीं सोने देगा' मिसेज पान्ड्या भुन्नायी। मिस्टर पान्ड्या की इस अदा से मिसेज पान्ड्या खूब परिचित हैं। उठ जाने के बाद मिस्टर पान्ड्या को यह बात गवारा नहीं कि मिसेज पान्ड्या सोयें, मगर मुँह से वे कुछ नहीं कहते। इसलिये किसी न किसी बहाने कोई हल्ला कर देते हैं।

मिसेज पान्ड्या ने उठकर चाय बनाकर मि. पान्ड्या को दे दी, मिस्टर पान्ड्या अपने छोटे से लान में बैठकर अखबार पढ़ने लगे। थोड़ी देर बाद मिसेज पान्ड्या भी आकर वहाँ बैठ गयीं।

'देखिये बब्लू आपके लिये क्या लाया है, कल के लिये वह सॉरी कह रहा था'— मिसेज पान्ड्या ने एक पैकेट मि.पान्ड्या की तरफ बढ़ाते हुए कहा।

मि. पान्ड्या ने पैकेट खोलकर देखा, पैकेट में खादी का कुर्ता पैजामा था। मि. पान्ड्या ने पहनकर देखा, नाप एकदम वैसी ही थी जैसा वे पहनते हैं।

मि. पान्ड्या और मिसेज पान्ड्या अपने लान में बैठकर बातें कर ही रहे थे कि लड़का (बब्लू) भी वहाँ आ गया।

'गुड मार्निंग डैड, गुडमार्निंग ममा।'

'गुडमार्निंग'— दोनों ने एक साथ कहा।

'डैडी मुझे आपकी शर्ट बहुत पसन्द आयी बहुत डीसेन्ट है'— लड़के ने कहा।

'मुझे भी तुम्हारा लाया गया कुर्ता-पैजामा बहुत पसंद आई एकदम फिट है'— मिस्टर पान्ड्या ने कहा।

तीनों बैठकर लान में बातें करने लगे। मिस्टर पान्ड्या और बब्लू को धीर-धीरे यह रहस्य खुला कि शर्ट और कुर्ता पैजामा कौन लाया था।

Untitled-1 78 7/23/2010, 1:32 PM

अनवरत

हमारी भाषा और हमारे साहित्य को सामाजिक समता और स्वतंत्रता के पक्ष में जो संघर्ष करना पड़ा, उसका भी अपना एक इतिहास है। इस इतिहास पर दृष्टिपात किये बिना न तो हम हिन्दी भाषा की अपनी प्रकृति को पहचान सकते हैं और न ही उसके साहित्य-धर्म को। भारतेन्दु से लेकर रामचंद्र शुक्ल तक हिन्दी भाषा के विकास और हिन्दी में साहित्य-दृष्टि के विकास के अनेक ऐसे पड़ाव हैं, जिनका इस दृष्टि से अध्ययन किया जाना चाहिए कि औपनिवेशिक दौर में हमारे हिन्दी-प्रेमियों और साहित्य-चिन्तकों ने सिर्फ़ तथाकथित व्याकरण दृष्टि से ही काम नहीं लिया बल्कि समाज के अपने विकास के समवर्ती रूप में भाषा के विकास को समझने की चेष्टा भी की।

इसी तरह जब हम साहित्य-चर्चा करते हैं तो कई बार वह एकांगी लगती है, क्योंकि उसमें केवल लिखित साहित्य को ही नज़र में रखा जाता है और उस विपुल साहित्य की अनदेखी कर दी जाती है जो अपने मूल रूप में वाचिक या मौखिक है और जिसे लिपिबद्ध हो पाने के बहुत कम मौक़े मिल सके।

Untitled-1 79 7/23/2010, 1:32 PM

उपनिवेश और हिंदी का स्वरूप

अरुण देव

औपनिवेशिक भारत के हिंदी लेखकों के लिए हिंदी बनते हुए आधुनिक राष्ट्र की राष्ट्रभाषा थी। प्रेस की सर्वसुलभता ने उस काल्पनिक समुदाय को प्रत्यक्ष कर दिया था जो अब तक असम्बोधित था। उस समय की सबसे महत्वपूर्ण पत्रिका सरस्वती (1901 से प्रकाशित) के उतने ही प्रभावशाली संपादक आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के लिए हिंदी का स्वरूप निर्धारण करना बनते हुए राष्ट्र के स्वरूप निर्धारण का रूपक था। हिंदी का स्वरूप निर्धारित करते हुए वह राष्ट्र का स्वरूप निर्धारित कर रहे थे।

हिंदी किसी एक क्षेत्र की विशिष्ट भाषा न थी। अलग-अलग क्षेत्रों के लोग अपनी स्थानीय बोलियों के प्रभाव से इसे अपने-अपने तरीके से व्यवहार में ला रहे थे। विशिष्ट सामाजिक राजनीतिक कारणों से हिंदी राष्ट्रभाषा के लिए अपना पक्ष प्रस्तुत कर रही थी अतः आवश्यक ही था कि स्वयं हिंदी में अंतर्विरोध कम से कम हों। यह कार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के कंधों पर आया। 'सरस्वती' का संपादन करते हुए उन्होंने इस उत्तरदायित्व का पूरी निष्ठा से निर्वहन किया। इस प्रक्रिया में उन्हें व्यापक विरोध का भी सामना करना पड़ा। बाद में उनकी इस छवि ने उनके आलोचकीय पक्ष को भी क्षति पहुँचाई। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के लिए वह भाषा को व्यवस्थित करने वाले संपादक ही रहे।

भारतेन्दु हरिश्चंद्र ने 1873 में अपने 'कालचक्र' नामक पुस्तक में हिंदी के नए चाल में ढलने को रेखांकित किया था। उसकी दिशा नागरी लिपि में संस्कृत तथा फारसी-अरबी से यथा संभव बचते हुए, बोलचाल के सहारे आगे बढ़ी थी। प्रचुर लेखन के द्वारा भारतेन्दु ने इसका उदाहरण भी प्रस्तुत किया था। भारतेन्दु मण्डल के लोग इस दिशा में आगे बढ़े पर व्याकरण और स्वरूप की समस्या बनी रही। उर्दू के व्याकरण या फिर संस्कृत के व्याकरण तथा कभी-कभी अपने सूझ-बूझ से इन प्रश्नों के उत्तर के प्रयास भी हुए पर उनमें विविधता और असंगतता का ही प्राचुर्य रहा। स्वयं भारतेन्दु ने 1883 में छपी 'हिंदी भाषा' में हिंदी के 12 शैलियों का उदाहरण स्वरूप वर्णन किया था। भारतेन्दु मण्डल के लेखकों को देखने से भी इस

Untitled-1 80 7/23/2010, 1:32 PM

विविधता का पता चलता है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी को परंपरा से हिंदी की विभिन्न शैलियाँ मिलीं। वे हिंदी को एकरूपता प्रदान कर उसे मानक रूप देना चाहते थे। इस क्रम में स्वयं उनकी भाषा में भी परिवर्तन हुए। महावीरप्रसाद द्विवेदी की लेखकीय यात्रा की शुरुआत हिंदी को मानक रूप देने की आकांक्षा से प्रारम्भ हुई। इण्डियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित 'हिंदी शिक्षावली का तृतीय भाग' द्विवेदी जी के लिए ऐतिहासिक महत्व का साबित हुआ। इस शिक्षावली की आलोचना 1899 ई. में 'हिंदी शिक्षावली के तृतीय भाग की आलोचना' नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई। परिणाम यह हुआ कि उक्त शिक्षावली पाठ्यक्रम से निकाल दी गयी। प्रेस के मालिक और संचालक बाबू चिंतामणि घोष द्विवेदी के संपर्क में आये और 1903 ई0 में श्यामसुंदर दास के 'सरस्वती' छोड़ने पर सरस्वती के संपादक बनाये गए। यह पुस्तक हिंदी के स्वरूप निर्माण की प्रारंभिक पुस्तक है।

हिंदी शिक्षावली का तृतीय भाग प्रयाग के लिटरेरी इंस्टीट्यूट से निकली थी जिसके संशोधक पण्डित दीनदयाल तिवारी तथा बाबू सीताराम बी.ए. थे। इसमें 62 पृष्ठ थे। इसका मुख्य पृष्ठ आधे से अधिक अंग्रेजी में था। भूमिका भी अंग्रेजी में दी गई तथा बीच-बीच में स्वाभाविक रीति से अंग्रेजी के शब्द रोमन लिपि में आये थे। अंग्रेजी में लिखी भूमिका में आचार्य द्विवेदी स्वीकार करते हैं कि उक्त पुस्तक के मुख्य पृष्ठ पर उनकी नजर गयी और उन्हें उस पृष्ठ पर ही ढेर सारी व्याकरणिक अशुद्धियां दिखीं, कौतुहलवश पूरी पुस्तक देखने पर उन्हें इसके दोषपूर्ण होने की पहचान हो गयी उनकी टिप्पणी बहुत ही तीखी है--

''यह हम स्वप्न में भी न समझते थे, कि ऐसी दूषित पुस्तकें यहाँ पाठशालाओं में प्रचलित हैं। क्या इन्हीं पुस्तकों को पढ़ा कर लोग आशा करते हैं, कि हिंदी पाठशालाओं के लड़के ज्ञान सम्पन्न होकर शुद्ध हिंदी लिखने लगेंगे? यदि करते हैं तो यह सर्वथैव भूल है।''1

आचार्य द्विवेदी ने बहुत ही विध्वंसक शैली में लगभग 26 पृष्ठों में अपनी यह प्रारंभिक आलोचनात्मक-पुस्तक प्रस्तुत की है। पूरी पुस्तक को उन्होंने 36 खण्डों में बांटा है तथा भाषादोष, कवितादोष, मनुस्मृति प्रकरणदोष, संप्रदायदोष, व्याकरणदोष और स्फुटदोष शीर्षक के अंतर्गत व्यवस्थित किया है। भूमिका में वे इसे पैम्फ्लेट (Pamphlet) कहते हैं।

उक्त शिक्षावली के प्रारंभिक पेज (टाइटिल पेज) पर छपा था।

हिंदी शिक्षावली
तृतीय भाग
जो
पश्चिमोत्तर देश के हिंदी पाठशालाओं की दफा
''प्राइमरी 2'' के लिए बनाई गई।

आचार्य द्विवेदी इसमें तीन अशुद्धियाँ निकालते हैं--

1. हिंदी शिक्षावली तृतीय भाग को वह एक सामासिक शब्द मानते हैं उनके अनुसार इसे *'हिंदी-शिक्षावली-तृतीय भाग* होना चाहिए था। समास के अंत में जो शब्द आता है क्रिया उसी

Untitled-1 81 7/23/2010, 1:32 PM

के लिंग और वचन के अनुसार निर्धारित होती है अतः वाक्य के अंत में *बनाई गई* की जगह *बनाया गया* होना चाहिए।

2. *'पश्चिमोत्तर देश के हिंदी पाठशालाओं की दफा'* पर ध्यान केंद्रित करते हुए आचार्य द्विवेदी लिखते हैं कि हिंदी पाठशालाओं का संबंध पश्चिमोत्तर देश से है। अतः इनके बीच का संबंध चिन्ह पाठशाला से निर्धारित होना चाहिए जो स्त्रीलिंग है अतः यहाँ *'पश्चिमोत्तर देश की हिंदी पाठशालाओं की दफा' ही होगा।*

3. *'दफा प्राइमरी 2'* की जगह *'द्वितीय प्राइमरी दफा', 'प्राइमरी 2 दफा' या 'प्राइमरी दूसरी दफा'* में बदलने का सुझाव यहाँ आचार्य द्विवेदी देते हैं क्योंकि विशेषण के बाद विशेष्य आता है।

पूरी पुस्तक आचार्य द्विवेदी की तीक्ष्ण आलोचनात्मक दृष्टि और गहन व्याकरणिक बोध का परिचय देती है। भाषा दोष में उन्होंने देशज शब्दों के प्रयोग को ठीक नहीं माना है। अंकुवा, सिआर, संचरने, काल, बान, जैसे शब्द आचार्य द्विवेदी के अनुसार ग्राम्य और नीरस हैं जिनका उच्चारण 'उत्कट उद्वेग' उत्पन्न करने वाला है। उनके अनुसार--

''पाठ्य पुस्तकों के बनाने और संशोधन करने वालों के ग्राम, नगर अथवा प्रांत की भाषा पश्चिमोत्तर देश की भाषा नहीं हो सकती। ऐसी पुस्तकों में, इस प्रकार के व्यापक शब्द आने चाहिए जो प्रांत भर में बोले जाते हों।''[2]

आगे चलकर आचार्य द्विवेदी शब्दों के असमानता की ओर भी ध्यान दिलाते हैं। कहीं 'पृथ्वी'तो कहीं 'पृथी' तथा संस्कृत के कठिन शब्दों जैसे- 'भ्रातृस्नेह', 'द्रवरूप' तथा 'आपत्ति' पर भी उनकी आपत्ति है।

शिक्षावली के वाक्य-संरचना को लेकर आचार्य द्विवेदी कुपित हैं--

''इस पुस्तक की वाक्य रचना अजीब दूषित है। संशोधक महाशयों ने उद्देश्य, विधेय, आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के विचार को अपने पास तक बहुधा कम फटकने दिया है कहीं-कहीं तो ऐसे अंड बंड शब्द रख दिये हैं कि जिनको पढ़ते ही जी जल उठता है और मन में क्रोध, खेद तथा शोक का एक ही साथ आविर्भाव होता है।''[3]

उदाहरण के रूप में वह निम्न वाक्य प्रस्तुत करते हैं--

''गुरुजी मा बाप और बड़े भाई का दुख पाने पर भी अनादर करना उचित नहीं।''

इसमें सम्बन्ध-चिह्न 'का' का सम्बन्ध अनादर से है, दुख से नहीं। उसकी जगह आचार्य द्विवेदी *'दुख पाने पर भी गुरु जी, मां-बाप और बड़ेभाई का अनादर करना उचित नहीं।'* का विकल्प रखते हैं। *'फतेहपुर सीकरी नाम का छोटा सा नगर, आजकल पुराने कोट के भीतर एक कोने में बसा है।'* जैसे आचार्य द्विवेदी के सुझाये गए वाक्य की जगह रीडर के लेखकों का यह वाक्य *'आजकल फतहपुर सीकरी पुराने कोट के भीतर एक कोने में छोटा सा नगर बसा है।'* हिंदी की दुर्दशा का परिचय देती है। आचार्य द्विवेदी की खीझ समझ में आती है-- 'मातः नागरी! तेरी सुवाच्यता कहाँ गई? हाय, हाय, तेरी यह दुर्गति। फतेहपुर नहीं, 'फतहपुर! उर्दू के उच्चारण का अनुकरण तो देखिए।''[4]

Untitled-1 82 7/23/2010, 1:32 PM

'कवितादोष' शीर्षक के अंतर्गत प्रस्तुत कविताओं के औचित्य, उनकी भाषा, उनकी संप्रेषणीयता तथा उनके विषय पर चर्चा की गयी है। रामायण का रामायन लिखने पर आचार्य द्विवेदी अपनी आपत्ति रखते हैं। एक काव्य पंक्ति में नकटे (ज्यों नक्टे को आरसी) आ जाने पर वह चिढ़ जाते हैं-'नकटे' इत्यादि शब्द पढ़कर जो जुगुप्सा मन में उत्पन्न होती है, वह सहृदय लोग ही जान सकेंगे। हरे! हरे!'[5]

पुस्तक में गद्य और पद्य को अलग-अलग समूहों में वर्गीकृत किया गया था। आचार्य द्विवेदी गद्य और पद्य को क्रम से सजाना चाहते हैं जिससे कि रोचकता बनी रहे। कविता के कठिन होने को स्वीकार करते हुए वह संपादकों से न केवल कविता की भी सहज प्रकृति की मांग करते हैं अपितु नीति, वेदांत, समाज आदि की जगह सृष्टि सौंदर्य को प्रस्तुत करने की सलाह देते हैं।

''सूर्य, चंद्रमा, तारा, नदी, पर्वत, तड़ाग, वन उपवन इत्यादि का पद्यात्मक वर्णन, लड़कों को जितना अच्छा लगता है, उतना कबीर की साखी, वृन्द, विनोद के उपदेश अच्छे नहीं लगते। अस्तु।''[6]

अगला खण्ड 'मनुस्मृतिदोष' शीर्षक से है। इसमें आचार्य द्विवेदी ने 'मनुसूत्र' के विकृत अनुवादों की भर्त्सना करते हुए उसके समयानुकूल पदों को ग्रहण करने पर जोर दिया है। उनकी पहली आपत्ति यह है कि संशोधक महोदय ने मनुस्मृति के मर्म को समझाने की जगह उसे उपदेशात्मक शैली में प्रस्तुत करने की भद्दी भूल की है। आध्यापक को गुरू जी कहने पर भी आचार्य द्विवेदी को एतराज है क्योंकि उस समय अध्यापक को बहुधा 'मुंशी जी या पंडित जी' कहा जाता था। उक्त अनुवाद में छात्रों को अध्यापक के सामने हाथ जोड़ कर खड़े रहने, की आज्ञा दी गयी है। आचार्य द्विवेदी उसे समय के प्रतिकूल पाते हैं तथा नमस्कार या प्रणाम से काम चलाने की बात करते हैं। इसके साथ ही वह 'सर्वनाम', 'संज्ञा' तथा जब के साथ तो के प्रयोग को अस्वीकार करते हैं।

आचार्य द्विवेदी ने मनुस्मृति के अनुवादों में 'देशकाल दोष', 'अवस्था' और 'परिपाटी' आदि की अवहेलना करने का दोष पुस्तक के संपादक पर लगाते हुए निम्न दो उदाहरण प्रस्तुत किए हैं।

''गुरुजी के सामने लड़कों को सदा दीन बना रहना चाहिए।''[7] इस पर आचार्य द्विवेदी टिप्पणी करते हैं--

''क्यों साहब! 'दीन' से यहाँ क्या आशय है? 'नम्र' अथवा 'अधीन' से तो नहीं? यदि, 'हाँ, तो कहिए किस कोश से आपने यह अर्थ निकाला है। 'दीन' का अर्थ है 'दुःखित', अथवा 'दरिद्रग्रस्त', परंतु जो दुःखी अथवा दरिद्र हुई नहीं वह 'गुरुजी' के सामने जाकर कैसे हो सकता है? मनुस्मृति (हीनानन्नवस्त्र वेषः स्यात्) में तो होन है 'दीन' नहीं। फिर दीन शब्द का इतना पक्षपात क्यों? इसका तो विचार आपने किया ही नहीं, कि मनुस्मृति में कहा गया कौन धर्म्म, हिंदी पाठशालाओं के लड़कों के लिए योग्य और कौन अयोग्य है; फिर, इस श्लोकार्द्ध का पूरा-पूरा अनुवाद आपने क्यों न कर दिया, जिससे सब लड़के अपने-अपने गुरूजी से रोज पूँछ लेते, ''कि आपने आज क्या खाया है अथवा क्या खाने का विचार किया है'' और यदि वह

Untitled-1 83 7/23/2010, 1:32 PM

रोटी दाल बतलाते तो उनसे 'हीनान्न' भोजन करने के धर्म्म का प्रतिपादन करने के लिए घर जाकर बिना नमक के दाल और रोटी से पेट भरते। अस्तु''[8]

यहाँ आचार्य द्विवेदी न केवल हिंदी भाषा का संस्कार करते हैं अपितु हिंदी चेतना का भी संस्कार कर रहे हैं। इस प्रक्रिया में बांग्ला और मराठी भाषाएं उनके ध्यान में हमेशा रहती हैं। भाषा की गड़बड़ी के साथ विचारों की गड़बड़ी पर भी उनका ध्यान है। अपने प्रारम्भिक लेखन में ही आचार्य द्विवेदी की आलोचना के सामाजिक सरोकार आकार लेते दिखायी देते हैं। भाषा और संस्कार दोनों उनकी आलोचना के सामूहिक प्रतिपक्ष है। बद्धमूल संस्कारों परुनकी प्रगतिशील और आधुनिक चेतना बहुत ही सतर्क दृष्टि रखती है। छोटी-छोटी बातों को भी ध्यान से देखना और उस पर भी अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करना आचार्य द्विवेदी प्रारंभ से ही प्रारंभ कर चुके थे। उनके व्यंग्य बहुत ही संक्रामक हैं। 'हिंदी शिक्षावली के तृतीय भाग में दी गयी यह उक्ति -

''गुरुजी के सामने नीचे आसन पर बैठना चाहिए।''[9]

पर उनका संहारक व्यंग्य देखने योग्य हैं--

''लड़कों से इस शिक्षा का प्रतिपादन कराने के लिए, पाठशालाओं के अधिकारियों को उचित है, कि जिन जिन पाठशालाओं के ब्यंचै (बेंच), अध्यापकों के स्टूल और कुर्सियों के बराबर अथवा उनसे ऊँची हों, उनको छाँट-छांटकर नीची करा दें। और जहाँ लड़के और अध्यापक दोनों भूमि पर ही टाट के ऊपर बैठते हों, वहाँ लड़कों के नीचे की भूमि खुदवाकर उनको गढ़े में बैठने की आज्ञा दे दें।''[10]

आगे मुहावरों के प्रयोग में असावधानियों का वर्णन है। रीछ के संदर्भ में 'वह अपने पिछले पाँवों पर खड़ा हो जाता है।' में पिछले पाँवों पर खड़ा हो जाने को अप्रचलित बताते हुए उसकी जगह 'पैरों' के बल पर खड़े हो जाना' या 'पिछले पैरों से खड़े हो जाना' का विकल्प प्रस्तुत करते हैं। ग्रंथकारों ने उक्त मुहावरा अंग्रेजी में `When the bear is molested it stands up on its hind legs' के आधार पर बनाया है। अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद करते हुए या असावधानियाँ आज भी हिंदी में बड़े पैमाने पर प्रचलित हैं--

''हमारे अंगरेजी विद्वानों को हिंदी लिखते समय, बहुधा अंगरेजी वाक्य पहले सूझते हैं, और जब वे सूझ जाते हैं, तब वे लोग, उन्हीं का भाषांतर कर देते हैं। खेद है,वे यह नहीं देखते कि एक भाषा के मुहाविरों का दूसरी भाषा में शाब्दिक अनुवाद करने से उनका सारा स्वास्थ्य जाता रहता है, और अर्थ कुछ का कुछ हो जाता है।''[11]

ऐसे ही उदाहरण और हैं जैसे 'सब कुछ कुत्तों को चला जाएगा।' संस्कृत में मनुस्मृति में यह इस प्रकार है--''तत्ते सर्वं शुनो गच्छेत्'' और अंग्रेजी में `It will go to dogs' आचार्य द्विवेदी इसकी जगह 'क्षीण हो जायेगा' का सुझाव देते हैं। संस्कृत से हिंदी की तुलना करते हुए हिंदी की प्रकृति का भी बोध बराबर आचार्य द्विवेदी को रहता है।

अगला खण्ड व्याकरण से सम्बन्धित है जिसमें उदाहरणों के द्वारा विस्तार से हिंदी की दुर्दशा का वर्णन है। आचार्य द्विवेदी के अनुसार हिंदी शिक्षा ली के तृतीय भाग में व्याकरण

Untitled-1 84 7/23/2010, 1:32 PM

की 'अत्यन्त, अत्यन्त, अत्यन्त' ही अवहेलना की गई है।

''जब मैंने देखा कि वह डूब रहा है तो फुर्ती से अपनी जान पर खेल कर पानी में कूद पड़ा।''[12]

इस पर आचार्य द्विवेदी का भाषा-परिष्कार देखने योग्य है।

''मैंने देखा; (मैंने) पानी में कूद पड़ा! ऐसे ही शुद्ध वाक्यों से लड़कों को शिक्षा दी जायेगी। हिंदी! तू जीती ही मरो! यहाँ पर, फिर *जब* के साथ *तो* का प्रयोग किया गया है। हमको स्पष्टतया कह देना चाहिए कि 'जब' और *'तब'* समयबोधक अव्यय हैं, और *'जो'* और *'तो'* नियमबोधक हैं। अतएव *'जब'* का अर्थ *'जो'* से और *'तब'* का अर्थ *'तो'* से कदापि नहीं निकल सकता।''[13]

स्फुट दोष में आचार्य द्विवेदी ने लेखक के विचारगत अशुद्धियों का परिचय दिया है। 1899 में आचार्य द्विवेदी ब्रिटिश राज के परम भक्त के रूप में सामने आते हैं। उनके सामने हिंदी पढ़ने वाले विद्यार्थियों में ब्रिटिश राज के प्रति श्रद्धा की बड़ी चिता है।

''इस पुस्तक को हमने साद्यन्त पढ़ा, परनतु इसमें ऐसा कोई पाठ हमको न मिला जिसमें अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा अथवा कथा होती। नादिरशाह का वृतांत है, भारतेश्वरी विक्टोरिया का नहीं। बाबर की कथा बड़े प्रेम से वर्णन की गई है, किसी वाइसराय की नहीं। जिसके राज्य में हम लोग सुख से शयन करते हैं; जिसके राज्य में हिंदी पाठशालाएँ नियत हुई हैं; और जिसके राज्य में आज किताबें लिखने का सौभाग्य हमको प्राप्त हुआ है, उसका अथवा उसके किसी प्रतिनिधि का परिचय लड़कों को दिलाना क्या कोई अनुचित बात थी?''[14]

यह प्रेम पुस्तक के अंत में और सघन हुआ है--

''कहना हमको ईश्वर से है, कि हे परमात्मान्! तूही ने कृपा करके हम भारतवासियों को, इस ब्रिटिश सत्ता का अलौकिक लाभ दिया है; तूही ने, इस प्रांत में, सर अन्टोनी मेक्डानल सदृश प्रजावत्सल अधिकारियों की योजना की है, और तूही ने योग्य-न्यायी और गुणग्राहक पुरुषों को, पश्चिमोत्तर प्रदेश के शिक्षा विभाग का भार सौंबा है, अतएव अब तू ही, इस शिक्षावली के समान कुत्सित पुस्तकों से, हमारी हिंदी पाठशालाओं के लड़कों की रक्षा कर!''[15]

इसके अलावा एक कथा की आचार्य द्विवेदी ने इसलिए भी निन्दा की है कि उसमें 'विषप्राशन' है जिससे 'कोमलकांतःकरण छोटे-छोटे लड़कों के हृदय में इससे अच्छा प्रभाव नहीं पड़ेगा।' प्रस्तुत कथा में चूँकि पिता अपनी पुत्री को विष देता है अतः इससे माता-पिता के प्रति प्रेम का अंकुर न उत्पन्न होने का खतरा है। मांस, मछली के जिक्र का भी विरोध किया गया है।

आचार्य द्विवेदी के इस घनघोर आलोचना का ही परिणाम था कि यह पुस्तक स्कूलों से हटा ली गयी। इस आलोचना से स्वयं आचार्य द्विवेदी की प्रारंभिक शैली का पता चलता है। 'धर्म' की जगह 'धर्म्म, 'पुस्तकें' की जगह 'पुस्तकै' 'मानेगा' कि जगह 'मानैगा' 'अपेक्षा' की जगह 'अपेक्ष' पड़ जायें की जगह 'पड़ जावै' 'चलता है' कि जगह 'चलित' 'आये' की जगह 'आवे' का प्रयोग 'आचार्य द्विवेदी' ने किया है।

कैंब्रिज विश्वविद्यालय में हिंदी की प्राध्यापिका फ्रंचेस्का ओरसिनी ने औपनिवेशिक भारत

Untitled-1 85 7/23/2010, 1:32 PM

में 'हिंदी-आन्दोलन' का अध्ययन शिक्षा-व्यवस्था में हिंदी से जुड़े आर्थिक-लाभों के संदर्भ में किया है। उनके अनुसार--

''विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों के लिए पुस्तकों को लिखना न केवल ऊपरी कमाई का अच्छा स्रोत बन गया, बल्कि इनके जरिये उनके नाम, उनकी रुचियों और मूल्यों को भी विश्वविद्यालय के सीमित दायरे के बाहर भी प्रचार-प्रसार मिला। इन्हीं लेखकों-प्राध्यापकों यानी श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', भगवान दीन, रामदास गौड, पीतांबरदत्त बड़थ्वाल, पदुमलाल पन्नालाल बख्शी आदि को संग्रहित करके 20 वीं शताब्दी के खड़ी बोली के पहले लेखकों के एक सामूहिक आधुनिक परम्परा के शीर्ष पर रख गया।''[16]

'हिंदी-आन्दोलन' से जुड़े मनीषियों के साहित्य कर्म को आर्थिक लाभ से जोड़ कर देखने से इस आन्दोलन के एक आयाम पर प्रकाश पड़ता है। यह आयाम हिंदी-आन्दोलन का एक अनुषंग हो सकता है, एक अतिरिक्त-उत्पादन हो सकता है, पूरे आन्दोलन का लक्ष्य नहीं। ओरसिनी का यह कहना है कि--

''यह संयोग की बात नहीं कि इंडियन प्रेस के मालिक बाबू चिन्तामणि घोष ने महावीरप्रसाद द्विवेदी को सरस्वती के संपादक बनने का बुलावा तब दिया जब द्विवेदी जी ने इंडियन प्रेस की किसी पाठ्यपुस्तक की विस्तृत आलोचना की थी।''[17] आचार्य द्विवेदी के द्वारा हिंदी रीडर की आलोचना के पीछे भविष्य में होने वाले किसी आर्थिक लाभ के होने की संभावना की ओर कम से कम ओरसिनी इशारा नहीं करती हैं। 'सरस्वती' से जुड़ने से पहले आचार्य द्विवेदी बतौर एक चीफ क्लर्क 200 रुपया प्रति माह पाते थे। सरस्वती में उन्हें 23 रुपये मिलते थे जिसमें 20 रुपये पारिश्रमिक के तथा 3 रुपये डाक खर्च के थे। प्रत्येक माह 180 रुपये की हानि पर भी 'सरस्वती' को 'साधने' के पीछे की उनकी भावना की उपरोक्त व्याख्या उनका अवमूल्यन करती है। अगर सरस्वती के माध्यम से आचार्य द्विवेदी किसी संभावित आर्थिक लाभ के आकांक्षी थे, तो स्वाभाविक यह था कि वे इंडियन प्रेस के मालिक बाबू चिन्तामणि घोष के अनुकूल बातें कह कर उन्हें प्रसन्न करते। 'सरस्वती' में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी को बुलाने के पीछे ठोस कारण थे, कोई संयोग नहीं। 1900 के जनवरी के इसके पहले अंक में बाबू श्यामसुन्दर दास के साथ संपादक मण्डल में बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री, बाबू राधाकृष्णदास, बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर के साथ पं. किशोरी लाल गोस्वामी थे। 1901 से इसके एकमात्र संपादक बाबू श्यामसुन्दर दास रह गये जो अवैतनिक थे। 1902 में 'समय के अभाव' तथा 'आर्थिक कृच्छता' के कारण उन्होंने भी सरस्वती को छोड़ दिया। स्पष्ट है कि सरस्वती प्रारम्भ से ही संकट में थी। ऐसी स्थिति में बाबू चिन्तामणि घोष को किसी उचित पात्र की तलाश थी जो सरस्वती को स्थायित्व प्रदान कर सके बाबू चन्तामणि घोष का लक्ष्य अगर सिर्फ आर्थिक होता तो वह किसी भी तरह से बाबू श्यामसुन्दर दास को सरस्वती से जोड़े रखते जो न केवल उस समय नागरी प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष थे अपितु शिक्षा जगत में भी उनकी ठीक ठाक पैठ थी।

अगर यह मान भी लिया जाय कि इस आन्दोलन से कुछ प्रेसों के आर्थिक हित सधते

Untitled-1 86 7/23/2010, 1:32 PM

थे तो यह एक सर्वकालिक और सर्वव्यापी प्रवृत्ति है। प्रेस मालिकों के आर्थिक आकांक्षा को हिंदी-आन्दोलन के मीमांसकों पर घटित करना गलत दिशा को जाते रास्ते की ओर इशारा करना है।

हिंदी के स्वरूप निर्धारण के संदर्भ में अगला पड़ाव भाषा की अनस्थिरता का विवाद था। यह विवाद बहुत ही व्यापक, संक्रामक और बौद्धिक उत्तेजना से भरपूर रहा।

भाषा की अव्यवस्था से खिन्न होकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भाषा और व्याकरण नामक एक लेख 1905 के नवम्बर के 'सरस्वती' में प्रकाशित किया। इस लेख में आचार्य द्विवेदी ने भाषा और व्याकरण की अपनी सद्धांतिक और व्यावहारिक समझ का परिचय देते हुए हिंदी के लिए एक सर्वस्वीकृत व्याकरण की आवश्यकता पर बल दिया तथा इसके अभाव में भाषा की 'अनस्थिरता' का उदाहरण सहित विवरण प्रस्तुत किया। उदाहरण के लिए महावी प्रसाद द्विवेदी ने क्रम से भारतेन्दु हरिश्चंद्र, राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द, गदाधर सिंह, श्री राधाचरण गोस्वामी और काशीनाथ खत्री के गद्यांशों का उपयोग किया। महावीरप्रसाद द्विवेदी का इन लेखकों की भाषा में त्रुटियों का उत्खनन तत्कालीन हिंदी जगत (काफी बड़ा हिस्सा) को प्रीतिकर नहीं लगा। 1905 के मार्च से प्रांरभ कर दस किश्तों में बाबू बालमुकुंद गुप्त ने आत्माराम छद्मनाम से भाषा की अनिस्थिरता' नामक 'लेखमाला लिखीं जिसमें आचार्य द्विवेदी की तीखी आलोचना की गयी। इस विवाद में आगे चलकर गोपालराम गहमरी, गोविन्दनारायण मिश्र जैसे लोग भी शामिल हो गए।

खड़ी बोली हिंदी किस रूप में राष्ट्रभाषा का पद प्राप्त करेगी? इसके दो स्वरूप स्पष्ट रूप से सामने थे। हिंदी के स्वरूप निर्धारण में भी ये विचार पद्धतियाँ कार्य कर रही थीं। हिंदी क्षेत्रों का राष्ट्रवाद हिंदी के स्वरूप की ही तरह अपरिभाषित था। विडम्बना यह है कि जो लोग हिंदी के स्वरूप निर्धारण के लिए अत्यधिक सतर्क थे वे अंग्रेजी राज के प्रशंसक भी थे। महावीर प्रसाद द्विवेदी इसके सबसे अच्छे उदाहरण हैं,यह समूह हिंदी के आभिजात्य का पक्षधर था। दूसरा वर्ग हिंदी के स्वाभाविक विकास तथा लचीले दिशा-निर्देशों को सामने रखकर अपना कार्य करता था, उनके हिंदी में उर्दू के लिए सम्मान तथा उर्दू के व्याकरण के लिए भी यह जगह बनी रहती थी। ऐसे लोग राष्ट्रवाद के प्रति काफी सतर्क थे और अंग्रेजी राज की तार्किक आलोचना करने से नहीं चूकते थे। बालमुकुन्द गुप्त को इस धारा से जोड़ा जा सकता है। दोनों की तुलनात्मक विवेचना करने से हिंदी के स्वरूप निर्धारण के दो अलग-अलग मॉडलों का पता चलता है।

महावीरप्रसाद द्विवेदी ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का निम्न वाक्य उद्धृत करते हुए कहा कि यह वाक्य व्याकरण सिद्ध नहीं है--

''मेरी बनाई वा अनुबादित वा संग्रह की हुई पुस्तकों को श्री बाबू रामदीनसिंह, 'खंड्गविलास' के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि छापै।''[18]

'अनुबादित' की जगह 'अनुवादित', 'को' के आगे 'छापने का', छापै से पहले एक सर्वनाम की आवश्यकता तथा 'पुस्तकों को' की जगह 'उन्हें' या 'उनको' का सुझाव दिया। तो

Untitled-1 87 7/23/2010, 1:32 PM

उनके अनुसार यह व्याकरण-सिद्ध और सुगठित हो जायेगा।

''मेरी बनाई वा अनुवादित वा संग्रह की हुई पुस्तकों को छापने का श्री बाबू रामदीन सिंह, 'खंड्गविलास' के स्वामी का कुल अधिकार है और किसी को अधिकार नहीं कि उन्हें छापै।''

आचार्य द्विवेदी इसे छापेखाने की त्रुटि के रूप में देखते हैं। ''संभव है, बाबू हरिश्चंद्र ने इस वाक्य को ठीक लिखा हो, पर छापेखाने की असावधानी से ये त्रुटियाँ रह गई हों।''[19]

इस पर बालमुकुन्द गुप्त ने 'भारतमित्र' में टिप्पणी करते हुए लिखा--

''इस वाक्य में (भारतेन्दु का उक्त वाक्य) छापे की एक बहुत छोटी सी भूल रह गई है। इस प्रकार की भूल को अंगरेजी के विद्वान दिल्लगी से प्रेस के भूतों का काम बताया करते हैं। 'का' की जगह 'को' को जगह 'का' उक्त भूत सहज में बना डालते हैं।--सचमुच 23 साल हो गये, इतनी सारी भूल किसी से न पकड़ी गई थी। आप दूर की कौड़ी लाये हैं। खैर, आपका संशोधन देखिए- यदि 'को' के आगे 'छापने का' ये दो शब्द आ जाते हैं तो वाक्य की शिथिलता जाती रहती। 'छापने का' एक अधूरा वाक्य है या दो शब्द? यदि दो शब्द ठहराते हैं तो इनके बीच में और क्यों नहीं जोड़ते? 'छापने' और 'का' जब तक अलग-अलग न हों दो कैसे कहलाएँगे? खैर, इसके लिए खिसियाने की जरूरत नहीं--अच्छा महाराज! यदि आपके 'छापने का' की जगह केवल 'का' या 'पर' होता तो वाक्य की शिथिलता जाती रहती कि नहीं?--जी नहीं, उन्हें या उनको आने की कुछ जरूरत नहीं। जब मतलब साफ है तो एक व्यर्थ शब्द क्यों बढ़ाया जाय?--बात दरअसल यह है, हिंदी आप समझते ही कम हैं। पहले तो आपने 'को' को बिना पहचाने ही उसके आगे 'छापने' जोड़ने की आज्ञा दी। अब 'उनको' और जोड़ने की जबरदस्ती कर रहे हैं। जान पड़ता है कि 'को' से आपको बड़ी प्रीति है। इससे 'का' की जगह 'को' और एक और 'को' जोड़कर एक खासा 'को को' बना लिया।''[20]

गुप्त जी के अनुसार यह वाक्य इस प्रकार होता--

''मेरी बनाई वा अनुवादित वा संग्रह की हुई पुस्तकों का श्री बाबू रामदीनसिंह 'खंड्गविलास' के स्वामी को कुल अधिकार है।''

हिंदी की वाक्य संरचना के ये दो मॉडल हैं। आचार्य द्विवेदी का मॉडल जहाँ संस्कृत के नियमों का बहुत दूर तक पालन करता है, वहीं बालमुकुन्द गुप्त इसके लिए एक मिली जुली संहिता प्रस्तुत करते हैं। उन्हें उर्दू के व्याकरण से भी परहेज नहीं। राजा शिवप्रसाद सिंह के संदर्भ में यह बात और स्पष्ट हो कर सामने आती है--आचार्य द्विवेदी ने उनके तीन उद्धरण प्रस्तुत करते हुए निम्न सुझाव दिये हैं--

''धरती पर अनेक देश हैं, और उनमें मनुष्य बसते हैं। परंतु सब (1) देश के लोगों की एक-सी बोली नहीं हैं,

बालबोध (राजा शिवप्रसाद)

'बिजली कुछ बादलों ही में नहीं रहती। थोड़ी बहुत (2) सब जगह और अक्सर चीजों में रहा करती हैं। यहाँ तक कि (3) हमारे और तुम्हारे बदन में भी है । और कलों के जोर से

Untitled-1 88 7/23/2010, 1:32 PM

भी (4) निकल सकती है'।

विद्यांकुर, 23 वीं आवृत्ति (राजा शिवप्रसाद)

'औरंगजेब ने तख्त पर बैठकर अपना लक़ब आलमगीर रक्खा। मुल्तान के पास तक (5) दाराशिकोह का पीछा किया। लेकिन जब (6) सुना कि दाराशिकोह मुल्तान से सिंध की तरफ भाग गया और शुजा बंगाल से आता है, फौरन (7) इलाहाबाद की तरफ़ मुड़ा।[21]

इतिहास-तिमिरनाशक (राजा शिवप्रसाद)

सुझाव इस प्रकार हैं- 'इन अवतरणों में

(1) 'सब देश' की जगह 'सब देशों' क्यों न हों?

(2) 'थोड़ी बहुत' के आगे 'बिजुली' क्यों न हो? और जहाँ

(3) और (4) अंक हैं, वहाँ 'वह' क्यों न हो?

(5) और (6) की जगह 'उसने' और

(7) की जगह 'वह' भी अपेक्षित है।

आचार्य द्विवेदी कहते हैं कि कर्तृपदों का ऐसा समूल-संहार शायद ही और किसी लेखक की इबारत में पाया जाय। यदि इस तरह की इबारत अच्छे मुहावरे में गिनी जाये तो नमः शब्दशास्त्राय!''[22]

हिंदी के आरंभिक लेखन से आचार्य द्विवेदी का इस तरह के 'शब्दानुशासन' की मांग हिंदी के विकास और उसकी प्रकृति को देखते हुए उचित नहीं लगता। गुप्त जी अपनी धारावाहिक लेखमाला के पाँचवे भाग 'राजा शिवप्रसाद की इसलाह' में लिखते हैं--

''सुनिये, राजा साहब उर्दू से हिंदी में आये थे, कदाचित् इसी कारण उनसे यह असावधानी हुई। राजा साहब ने 'हर' का तरजमा 'सब' किया है। 'हर देश' या 'हर मुल्क' तो ठीक होता है। आप भी कुछ कह सकते। हर को सब बनाने ही में 'देश' को 'देशों' बनाने की जरूरत पड़ी।''[23]

यहाँ गुप्त जी राजा शिप्रसाद सिंह से हुयी इस 'असावधानी' का कारण भर बताते हैं और इसी प्रकार की एक त्रुटि स्वयं आचार्य द्विवेदी में भी खोज निकालते हैं--

''जिस अखबार को उठाइये, जिस पुस्तक को उठाइये, सबकी वाक्य रचना में आपको भेद मिलेगा।''[24] यहाँ 'हरेक की' की जगह द्विवेदी जी ने 'सबकी' लिख डाला। जब द्विवेदीजी भूल कर सकते हैं तो एक भूल राजा शिवप्रसादसिंह की भी माफ होनी चाहिए। यह बहुत ही दिलचस्प संयोग है कि इस वाक्य में स्वयं लिंग की एक गलती रह जाती है। गुप्त जी आचार्य द्विवेदी पर आगे कृपा करते हुए लिखते हैं कि दूसरे वाक्य में बिजली की जगह बिजुली का प्रयोग ग्रामीण प्रयोग है।

-'धन्य बिजुली! देहात की औरतों को भी द्विवेदी जी ने मात किया' तथा दो जगह 'वह' घुसेड़ने से वाक्य स्पष्ट होने की जगह 'गुट्ठल' हो जाता है। राजा शिवप्रसाद सितारे हिंदी की भाषा को उर्दू के प्रभाव से निर्धारित होता मानते हुए गुप्त जी 'आबे हयात' के लेखक तथा प्रख्यगत व्याकरणाचार्य मुहम्मद हुसैन हाली' के कुछ वाक्यों को उद्धृत करते हैं।[25]

Untitled-1 89 7/23/2010, 1:32 PM

हम सब एक ही मंजिलें मकसूद के मुसाफिर हैं। इत्तिफाग्न गुजरगाहे दुनियामें एकसा हो गये हैं। रस्तेका साथ है। बना बनाया कारवान चला जाता है। इत्तिफाक और मिलनसारी के साथ चलोगे, हमदर्दी से काम बटाते चलोगे, तो हँसते-खेलते रास्ता कट जायगा। अगर ऐसा न करोगे और इन झगड़ालुओं के झगड़े तुम भी पैदा करोगे, तो नुक्सान उठाओगे। आप तकलीफ पाओगे, साथियों को भी तकलीफ दोगे।

तथा उसमें आचार्य द्विवेदी की प्रवृत्ति के अनुरूप कुछ परिवर्तन कर देते हैं।[26]

हम सब एक ही मंजिल मकसूद के मुसाफिर हैं। हम सब इत्तिफाकन दुनिया में एक-सा हो गये हैं। हम सब का रस्तेका साथ है। हम सबका बना बनाया करवान चला जाता है। अगर तुम इत्तिफाक और मिलनसारीके साथ चलोगे, अगर तुम हमदर्दी से काम बटाते चलोगे, तो हँसते-खेलते हम सबका रस्ता कट जाएगा। अगर तुम ऐसा न करोगे और इन झगड़ालुओं के झगड़े तुम भी पैदा करोगक, तो तुम भी नुकसान उठाओगे। तुम आप भी तकलीफ पाओगे और तुम अपने साथियों को भी तकलीफ दोगे।

और फिर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि

''इसमें '3 हम सब' और '1 हम सबका' '1 अगर', '4 तुम' '1 तुम भी' और तुम (कुछ भूल-चूक रह गई हो, तो द्विवेदी जी माफ करें) बढ़ गया। इससे जो लोग भाषा जानते हैं, भाषा बोलना जानते हैं, वह तो आपके व्याकरण से काम ले सकेंगे नहीं। हाँ, गाँव-गँवई के पाँच घंटा मिलकर आपके व्याकरण को देहात में रिवाज दिलवाने के लिए आंदोलन करें, तो शायद कुछ सफलता हो सकती है।''[27]

यहाँ गुप्तजी, हिंदी के स्वरूप निर्धारण पर चल रही इस बहस में हिंदी विरोधी तर्कों का उपयोग करते हैं। हिंदी को 'गँवारू भाषा' कहने का उर्दू समर्थकों तथा हिंदी विरोधियों में खासा चलन था। 'हिंदी-उर्दू' विवाद, शब्दों से बढ़कर वाक्य संरचना तक में अपना प्रभाव इस्तेमाल कर रहा था। जो लोग हिंदी-उर्दू के विवाद को सिर्फ शब्दों और लिपियों का विवाद समझ रहे हैं उनके लिए यह दृष्टांत पर्याप्त है। हिंदी, उर्दू का विवाद एक तरह से संस्कृत और अरबी-फारसी की परंपरा के बीच का विवाद बन गया था।

रामविलास शर्मा अपनी महत्वपूर्ण पुस्तक 'महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण' में इसे भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके मण्डल के प्रति सम्मान और श्रद्धा से उत्पन्न प्रतिक्रिया भर मानते हैं। उनके अनुसार

''वह यदि समकालीन लेखकों की रचनाओं से ऐसे उदाहरण देते तो लोग बुरा न मानते। पर उन्होंने उदाहरण चुने सबसे पहले भारतेन्दु हरिश्चंद्र से, फिर शिवप्रसाद से, फिर राधाचरण गोस्वामी और काशीनाथ खत्री से। लोगों को ऐसा लगा कि वह भारतेन्दु हरिश्चंद्र और उनके समकालीन साहित्यकारों पर आक्रमण कर रहें हैं। इसलिए जब बालमुकुन्द गुप्त ने द्विवेदी जी पर आक्रमण किया, तब उनके साथ हिंदी के बहुत से लेखक हो गए और बालमुकुन्द गुप्त के

Untitled-1 90 7/23/2010, 1:32 PM

लेखों में केवल उनका अपना रोष नहीं वरन् साधारण हिंदी पाठकों का रोष भी व्यक्त हुआ।''[28]

भारतेन्दु मण्डल और स्वयं भारतेन्दु के प्रति अगाध श्रद्धा गुप्त जी में थी। यह स्वयं उनके लेखन से भी ध्वनित होता है।[29] पर प्रश्न सिर्फ 'व्याकरण सम्मत हिंदी' और सम्मान का नहीं था। प्रश्न यह था कि हिंदी का स्वरूप कैसा हो? आचार्य द्विवेदी जहाँ से इस प्रश्न को देख रहे थे वहाँ उत्तर गलत हो इसकी संभावना प्रबल थी। शब्दों के चुनाव में जहाँ वह लोक में प्रचलित शब्दावली के पक्ष में खड़े थे वहीं व्याकरण में वह न चाहते हुए भी संस्कृत की ओर झुक जाते थे। यह एक आरे बनती हुई हिंदी से अतिरिक्त मांग थी वहीं भविष्य में हिंदी के प्रसार में बाधक भी। रामविलास शर्मा इस स्थिति को समझते हैं--

''हिंदी प्रयोगों को स्थिर करने में उर्दू गद्य से काफी सहायता ली जा सकता थी और बालमुकुन्द गुप्त ने यही किया था।''[30] आचार्य द्विवेदी अपना पक्ष रखते-रखते कहाँ तक जाते हैं, यह देखना रोचक होगा--

'हिंदी में जो सजीवता है वह उसे संस्कृत और प्राकृत से मिली है, अरबी-फारसी से नहीं। पर जिस हिंदी के टुकड़े खाकर उर्दू जिन्दा है उसी हिंदी को अब उर्दू के द्वार पर भीख माँगने-उसके सेवकों की बोली की नकल करने-देहली-आगरे जाना होगा! देखें इन जुबाँदानों की बदौलत उसकी क्या-क्या गति होती है।''[31]

आचार्य द्विवेदी द्वारा प्रारम्भ हुआ हिंदी संस्कार का यह प्रयास गलत प्रश्नों में उलझ कर रह गया। हिंदी के लिए संस्कृत के व्याकरण का समर्थन एक ऐसी भूल साबित हुयी कि जिसकी सहायता से स्वयं बालमुकुन्द गुप्त ने आचार्य द्विवेदी में दोष ढूँढ निकाले। जिस स्तर पर खड़े होकर आचार्य द्विवेदी भारतेन्दु मण्डल और भारतेन्दु में वाक्य-विन्यास की कमजोरियाँ दिखा रहे थे उस स्तर से थोड़ा आगे बढ़ने पर स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी के लेखन में दोषों का अम्बार दिख पड़ता है। यह संस्कृत के व्याकरण का बढ़ता हुआ असर था। बालमकुन्द गुप्त ने 'अनस्थिरता' शब्द को इसी स्तर से अशुद्ध और व्याकरण विरुद्ध सिद्ध कर दिया। अंततः महावीरप्रसाद द्विवेदी को कहना पड़ा--

'संस्कृत-व्याकरण से यदि वह अशुद्ध है तो हुआ करे; हम संस्कृत नहीं, किन्तु हिंदी लिख रहे हैं।[32] यह बात भारतेन्दु और भारतेन्दु मण्डल के लिए भी सच थी।

महावीरप्रसाद द्विवेदी सैद्धांतिक स्तर पर व्याकरण के विषय में प्रचलित आधुनिक दृष्टिकोण की वकालत कर रहे थे। पश्चिमी विद्वानों को उन्होंने खूब पढ़ा था और जगह-जगह उनकी अवधारणाओं का उपयोग भी किया था। व्यावहारिक स्तर पर अपने सिद्धांत से (जो कि उस समय के प्रचलित आधुनिक दृष्टिकोण भी थे), वे तादात्म्य कम ही बिठा पाये। विचार और संस्कार का यह द्वन्द्व यहाँ भी अपना कार्य नेपथ्य में रहकर बखूबी कर रहा था। आचार्य द्विवेदी स्पष्ट स्वीकार करते हैं।

--''भाषा-विज्ञान की उत्पत्ति हुए अभी कोई सौ वर्ष हुए। यह एक नया विज्ञान है। इसकी जन्मभूमि जर्मनी है। इंगलैण्ड, फ्रांस और अमेरिका आदि देशों में वहीं से इसका प्रचार

Untitled-1 91 7/23/2010, 1:32 PM

हुआ। इस विषय में अनेक पुस्तकें लिखीं जा चुकी हैं। उनमें से थ्रॉप , मैक्समूलर और व्हेटने की पुस्तकें सर्वमान्य हैं। प्रेसीडेंसी कालेज, कलकत्ता के संस्कृताध्यापक पंडित सतीशचंद्र विद्याभूषण, एम.ए. ने भी भाषा-विज्ञान के विषय में दो-एक लेख बँगला में लिखे हैं। इन पुस्तकों को पढ़ने से जो संस्कार हमारे चित्त पर हुआ था, उसके कुछ अंश को, अपने तौर पर लिखकर, 'भाषा और व्याकरण' के नाम से, हमने नवंबर 1905 की सरस्वती में, प्रकाशित किया।''[33] आचार्य द्विवेदी व्याकरण को भाषा के पैरों की शृंखला के रूप में देखते हैं--

''व्याकरण, भाषा की वृद्धि का अवरोधक है। वह भाषा की सजीवता का नाश करने वाला है। भाषाओं के भी जीवन की सीमा होती है। वे भी उत्पन्न होकर बढ़ती है और प्रतिकूल समय आते ही नाश को प्राप्त हो जाती है। जो भाषा उन्नति कर रही है उसमें व्याकरण का पंख लगाना मानो उसकी बाढ़ को रोक देना है। व्याकरण एक प्रकार की बेड़ी है। भाषा के पैरों से उसका योग होते ही भाषा बेचारी भयभीत होकर जहाँ की तहाँ रह जाती है। उसकी सारी संचरणशीलता चली जाती है। पर जो भाषा लिखी जाती है, उसकी बात दूसरी है। जिस भाषा में बड़े-बड़े इतिहास, काव्य, नाटक, दर्शन, विज्ञान और कलाकौशल से संबंध रखने वाले महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे जाते हैं, उसका शृंखलाबद्ध होना बहुत जरूरी है। उसका व्याकरण बनाना चाहिए।''[34]

आश्चर्य है कि भाषा के बारे में इतना उदार दृष्टिकोण रखने वाला आलोचक व्यावहारिक स्तर पर इसको लेकर इतना संकुचित हो गया। ऐसा ही आश्चर्य बाबू बालमुकुंद गुप्त को भी हुआ था--

''वाह! सुबहान अल्लाह! आप तो व्याकरण की तरफदारी करने चले थे न? जरा होश सम्हालकर बातें कीजिए। हवास को काबू में रखकर एक बात अच्छी तरह कहिए, तब दूसरी को मुँह से निकलने दीजिए, जिससे सिलसिला न बिगड़े।''[35]

यहाँ रामविलास शर्मा ठीक ही लिखते हैं--''द्विवेदी जी जिस तरह के व्याकरण की माँग कर रहे थे, वह मुख्यतः शासक व्याकरण था।''[36]

इस विवाद का अंत बाबू बालमुकुन्द गुप्त द्वारा आचार्य द्विवेदी के चरण स्पर्श और आचार्य द्विवेदी द्वारा बालमुकुन्द गुप्त को 'अच्छी हिंदी बस एक ही व्यक्ति लिखता था-बालमुकुन्द गुप्त' की स्वीकारोक्ति के साथ हुआ।

पर यह विवाद सिर्फ दो व्यक्तियों के बीच का विवाद न था। इस घटना को सांकेतिक अर्थ में ले तो यह आचार्य द्विवेदी के हिंदी स्वरूप निर्धारण के अपने मॉडल की विजय थी पर सच्चाई यह थी कि 'अच्छी हिंदी' बालमुकुन्द गुप्त की शैली में ही लिखी जा सकती थी। यहाँ 'अच्छी हिंदी' से तात्पर्य 'जीवंत हिंदी' से है। कहना न होगा कि 'हिंदी' आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के दिशा-निर्देशों में आगे बढ़ी। भाषा खासकर आलोचनात्मक भाषा पर इसका दूर-दूर तक प्रभाव आज भी देखा जा सकता है। डॉ0 रामविलास शर्मा ने इसकी सार्थकता पर प्रकाश डालते हुए लिखा है--

''वाद विवाद के दौरान थोड़ा-बहुत कीचड़ भी उछाला गया, साड़ी और लहँगे की बातें हुईं, पर कुल मिलाकर यह बहस लाभदायक थी। हिंदी को परिनिष्ठित रूप देना एक

Untitled-1 92 7/23/2010, 1:32 PM

ऐतिहासिक आवश्यकता को पूरा करना था। यह आवश्यकता इस रूप में पूरी हुई कि हिंदी लेखक अपनी भाषा के प्रति अधिक सतर्क रहने लगे।''[37]

'सरस्वती' में 1903 से लेकर 1920 तक छपे लेखों को मूल से मिलाने पर हिंदी के स्वरूप-निर्धारण के लिए आचार्य द्विवेदी द्वारा किए गए संघर्ष का पता चलता है। हर लेख के प्रत्येक वाक्य और शब्द को पढ़ते हुए उसे ठीक करना मामूली कार्य नहीं था। गैर हिंदी भाषी, दूसरी अनुशासन के लोग भी सरस्वती में लिखते थे, तब आचार्य द्विवेदी का कार्य और बढ़ जाता था।

'सरस्वती', (अप्रैल 1909) में आचार्य रामचंद्र शुक्ल का एक महत्वपूर्ण लेख छपा 'कविता क्या है?' इसके मूल और संशधित होकर छपे लेख को देखने से इसमें हुए परिवर्तन का पता चलता है। 'अस्थिपिंजर' को अस्थिपंजर, 'समझी जाने लगी है' का 'समझे जाने लगी है', कार्योत्पत्ति की जगह 'कार्य प्रवृत्ति' 'दुष्टों का मारना देखकर' की जगह, दुष्टों का मारा जाना देखकर' ऐसे उदाहरण हैं जिनसे हिंदी को व्यवस्थित करने में आचार्य द्विवेदी के द्वारा किए गए कार्य का पता चलता है।

संदर्भ

(1) महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग-7, संपादक-भारत यायावर, किताबघर नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ.26 (2) वही, पृ.29 (3) वही, पृ.30 (4) वही, पृ.31 (5) वही, पृ.32 (6) वही, पृ.34 (7) वही, पृ.36 (8) वही, पृ.36 (9) वही, पृ.36 (10) वही, पृ.36 (11) वही, पृ.39 (12) वही, पृ.40 13.वही, पृ.40 (14) वही, पृ.44 (15) वही, पृ.45 (16) फ्रंचेस्का ओरसिनी, राष्ट्रीय शिक्षा बनाम हिंदी साहित्य, हिंदी नई चाल में ढली एक पुनर्विचार, संपादक पुरुषोत्तम अग्रवाल संजय कुमार, देशकाल प्रकाशन, नई दिल्ली 2000, पृ.43 (17) वही, पृ.42 (18) महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग-1, संपादक-भारत यायावर, किताबघर नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ.280 (19) वही, पृ.280 (20) वही, पृ.341 (21) वही, पृ. 281 (22) वही पृ.281 (23) वही, पृ.343 (24) वही, पृ.343 (25) महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग-1, संपादक-भारत यायावर, किताबघर नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995 पृ.344 (26) वही, पृ.345 (27) महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग-2 संपादक-भारत यायावर, किताबघर, नई दिल्ली, प्रथण संस्करण, 1995, पृ.346 (28) महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, रामविलास शर्मा, राजकमल, दिल्ली, द्वितीय संस्करण

Untitled-1 93 7/23/2010, 1:32 PM

1989, पृ.266 (29) आप जानते हैं कि हरिश्चंद्र कौन? वही जिसको इस समय के हिंदी लेखक वर्तमान हिंदी का जन्मदाता और पालनकर्ता मानते हैं। वही जिसकी रचनाओं को पढ़कर 'हम पंचन के ट्वालामां' बोलनेवाले हिंदी बोलने को चोंच खोलने लगे हैं। हिंदीवालों का तो हरिश्चंद्र से वह नाता है। एक तो काशी ऐसा स्थान है, जिसकी विधा के हिसाब से कुछ गिनती ही नहीं। जहाँ न कोई संस्कृत जानता है न संस्कृत का व्याकरण! हिंदी पढ़ा-लिखा तो वहाँ होगा ही कौन, क्योंकि हिंदी वहाँ की मातृभाषा है।फिर हरिश्चंद्र जैसा विद्याशून्य आदमी- जिसने लाखों रुपये हिंदी के लिए स्वाहा कर डाले और पचासों ग्रंथ हिंदी के रच डाले, भला वह क्या एक पूरे पौने दो वाक्य का विज्ञापन शुद्ध लिख सकता था? कभी नहीं, तीन काल में नहीं! छापे वाले कभी नहीं भूले, हरिश्चंद्र ही भूला। महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग2, संपादक-भारत यायावर, किताबघर नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ.229 और 233 (30) महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदीनवजागरण, रामविलास शर्मा, राजकमल, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1989, पृ.267 (31) महावीरप्रसाद द्विवेदी रचनावली, भाग-2, संपादक-भारत यायावर, किताबघर नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1995, पृ.314 (32) वही, पृ.295 (33).वही, पृ.289 (34). वही, पृ.279 (35) पृ.335-36. महावीरप्रसाद द्विवेदी और हिंदी नवजागरण, रामविलास शर्मा, राजकमल, दिल्ली, द्वितीय संस्करण 1989, पृ.268 (37) वही, पृ.269

Untitled-1 94 7/23/2010, 1:32 PM

आदिवासी साहित्य : विविध परिदृश्य

विजयराघव रेड्डी

साहित्य का वर्गीकरण प्रथमतः लिपि को आधार बनाकर दो वर्गों में किया जा सकता है, लिखित साहित्य और अलिखित साहित्य। अलिखित साहित्य को ही दूसरे शब्दों में मौखिक साहित्य या वाचक साहित्य कहा जाता है। अधिकांश लोक साहित्य अभी मौखिक रूप में ही विद्यमान हैं, कम मात्रा में ही लोक साहित्य लिखित रूप में प्राप्त होता है। अधिकांश आदिवासी भाषाओं का साहित्य मौखिक रूप में ही प्रचलित है। क्योंकि ये भाषाएँ लिपिबद्ध नहीं की गई हैं। कुछ ही आदिवासी भाषाएँ लिपि में अंकित की जा रही हैं। इन लिपिबद्ध कुछ आदिवासी भाषाओं में मौखिक रूप में प्रचलित साहित्य को अब लिखित रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

जहाँ तक वाचिक रूप से प्रचलित सामान्य लोक साहित्य और आदिवासी समुदाय के लोक साहित्य का संबंध है, ये बातें कही जा सकती हैं कि प्रथम प्रकार से संबंधित जो साहित्य है, उसका संकलन, प्रकाशन, शोध कार्य बहुत पहले से शुरू हो गया है। लेकिन दूसरे प्रकार का साहित्य अर्थात् आदिवासी साहित्य का संबंध है, उसका संकलन, प्रकाशन का कार्य अभी-अभी प्रारंम्भ हुआ है।

लोक साहित्य में लिखित साहित्य की तुलना में कल्पना कम होती है क्योंकि लोक साहित्यकार कल्पना जगत में बहुत ऊँचा उड़ नहीं सकते। जब वे किसी दृश्य या घटना को अपनी आँखों से देखते हैं। तब उनके मन में जो-जो भाव उदित होते हैं वे उन्हें अपनी भाषा में व्यक्त कर देते हैं। अतः इस साहित्य में यथार्थ का पुट ज्यादा रहता है। दूसरे प्रकार के लोक साहित्य यानि आदिवासी समुदाय के लोक साहित्य में भी कल्पना की उड़ानें नहीं होतीं। अपना परिवेशगत यथार्थ होता है जिसमें अपनी परंपराएँ, संस्कार, प्राकृति शोभा, सुख-दुःख, आचार-विचार, रीति रिवाज प्रतिबिंबित ही नहीं होते, प्रत्युत उनकी पारंपरिक सोच, मिथक व मूल्य भी व्यक्त होते हैं। कल्पना (Imagination) के स्थान पर भावोत्तेजक अनुभव (emotional experience) से पूरा साहित्य भरा रहता है।

Untitled-1 95 7/23/2010, 1:32 PM

इधर Subaltern Literature के नाम से साहित्य का अलग वर्गीकरण करने की प्रवृत्ति सामने आई है। सबऑल्टर्न शब्द का Stantard Webster Dictionary में अर्थ Inferior दिया गया है। हिंदी में इस शब्द के पर्याय हैं- अधीनस्थ, मातहत, गौण, महत्वहीन, घटिया, निकृष्ट, अधोवर्ती, निम्न आदि। मेरी जानकारी में Subaltern लिटरेचर के लिए हिंदी में कोई शब्द अभी रूढ़ नहीं हो पाया है। कुछ लोगों ने इसे वंचित वर्ग का साहित्य कहा है। वंचित वर्ग को ही दूसरे शब्दों में प्रवंचित, महरूम, अभागा, बदनसीब, अपदस्थ और पीड़ित वर्ग भी कहा जाता है। इसका अर्थ यह लिया जा सकता है कि जिसे अब तक परंपरा से साहित्य समझा जाता था उसमें समाहित न होकर और उससे भिन्न प्रकार का जो साहित्य है और जो सामान्य वर्ग से संबंधित न होकर उनके अधीनस्थ, महत्वहीन, दलित व प्रवंचित वर्ग से संबंधित है और जो इन वर्गों के द्वारा निर्मित होता है उसे सबआल्टर्न साहित्य कहा जा सकता है। एक प्रकार से यह ऐसा साहित्य है जो मुख्य धारा के साहित्य से भिन्न होता है। मुख्य धारा के साहित्य को अगर उच्च वर्ग या शिष्ट जन साहित्य कहा जाता है तो उससे भिन्न साहित्य निम्न वर्ग या उपधारा का साहित्य कहा जाएगा। एक प्रकार से यह ऐसा साहित्य है जो केंद्रीय साहित्य न होकर बाह्य या परिधीय (Peripheral) साहित्य की कोटि में आता है। दूसरे शब्दों में इसे हाशिए का साहित्य जा सकता है।

यदि हमें इसे फिलहाल बाह्य या परिधीय या हाशिए का साहित्य मान लेते हैं तब इसके भी कई वर्ग बनाए जा सकते हैं जैसे, दलितवादी, नारीवादी, माइनारिटी मुस्लिम समुदाय, आदिवासी समुदाय से संबंधित साहित्य। चूँकि आदिवासी समुदायों का साहित्य प्रायः मौखिक रूप में प्रचलित रहता है। इस कारण हम दूसरे शब्दों में आदिवासी समुदाय के साहित्य को लोक साहित्य के नाम से अभिहित करते हैं।

आदिवासी समुदाय की जनसंख्या पूरे देश की जनसंख्या में 8% आंकी गयी है। पूर्वोत्तर भारत में इनकी जनसंख्या 30% मानी जाती है। देश में प्रचलित आर्य, द्रविड़, चीनी-तिब्बती और ऑस्ट्रोएशियाटिक सभी भाषा परिवारों की भाषाओं में कुछ ऐसी हैं जो आदिवासी समुदायों में ही व्यवहृत हैं। ये भाषाएँ आदिवासी या जनजातियों की (Schedule tribes) भाषाएँ कही जाती हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार भारत में 70 आदिवासी भाषाओं में पढ़ाई की जाती है और लगभग 40 भाषाओं में लिखित साहित्य उपलब्ध है। अधिसंख्यक आदिवासी भाषाएँ रोमन, देवनागरी लिपि में लिखी जाती हैं तो कुछ बंगला, गुजराती और तिब्बती लिपि में अंकित की जाती हैं। हिंदी में प्रस्तुत कुछ आदिवासी भाषाओं के साहित्य के दूसरी आदिवासी भाषाओं में अनुवाद की प्रक्रिया भी प्रारंभ हुई है।[1] सामान्य लोक साहित्य के समान आदिवासी समुदाय के लोक साहित्य में लोकगीत अधिक महत्व रखते हैं। वह इसलिए कि लोकगीतों के साथ लोक संगीत व लोक नृत्य भी जुड़ा रहता है। इन आदिवासी लोक गीतों में से कुछ प्रमुख पूर्वोत्तर भाषा समुदायों के गीत जिन्हें मैंने विविध स्रोतों से संकलित व संपादित किया था उन्हें इस आलेख में प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहा हूँ। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि संविधान की अष्टम अनुसूची में सम्मिलित दो आदिवासी भाषाओं-जैसे-संथाली और बोड़ो भाषाओं तथा खासी, मिजो आदि अन्य भाषाओं में स्नातक एवं स्नातकोत्तर कक्षाओं में अध्ययन-अध्यापन

Untitled-1 96 7/23/2010, 1:32 PM

हो रहा है। इन भाषाओं के लिखित साहित्य के भी उदाहरण सम्मिलित किए गए हैं। कई तरह के असंख्य आदिवासी समुदाय की गीतों में से मैंने इस आलेख के लिए (क) प्रणय गीत, (ख) पालने के गीत (ग), मूल स्थान व मूल पुरुष की खोज, (घ) मृत्यु के सार्वभौमिक सत्य, (च) अन्याय का मुकाबला, (छ) आधुनिक जीवन का दारिद्रय् एवं जीवन की जटिलताओं से मुक्ति की आकांक्षा, (ज) हँसी मजाक, (झ) आदिवासी स्त्री की पीड़ा-वेदना से संबंधित गीत को सम्मिलित किया। ये गीत व कविताएँ दस आदिवासी भाषाओं--चकमा, मिजो, आदि, बोड़ो, खासी, तांखुल, सवर, संथाली, खड़िया और नागपुरिया से लिये गये हैं।

(क) प्रणय गीत : पहले हम प्रणय गीतों पर चर्चा करेंगे। 'चकमा' आदिवासी ऐसा समुदाय है जो भारत में मिजोरम के दक्षिणी-पश्चिमी क्षेत्रों में निवास करता है। चकमा बौद्ध होते हैं और ये मंगोल प्रजाति के आदिवासी लोग हैं। नीचे उनके पाँच प्रणय गीत के भावार्थ प्रस्तुत हैं—

(1) नदी नाले और ताल तलैये भर जाने से जैसे मछलियाँ खुशी से नाच उठती हैं, मेरी सजनी! वैसे ही तेरे हाथ से पान खाकर मेरा दिल नाचने लगता है।
(2) जैसे पहाड़ी झरनों में मछलियाँ खरपतवार के बिना जिंदा नहीं रह सकतीं ओ मेरी प्रिये! वैसे ही तुझे देखे बिना मैं एक पल भी जिंदा नहीं रह सकता।
(3) यदि तुम मेरी नजरों से ओझल हो जाओगी तो उसी तरह पुकार-पुकार कर मर जाऊँगा जैसे हिरण जंगल में हिरणी को पुकार-पुकार कर प्राण त्याग देता है।
(4) पंछी चाहे आसमान में उड़ान भरना भले ही भूल जाए (प्रकृति का न्याय भी क्यों न उलट जाए) परंतु मेरी जान तू मेरे दिल की तहों में सदा बसी रहेगी।
(5) मेरी आत्मा तेरे घाट पर लंगर डाले बैठी है। वह तो न जाने कब कि तेरी हो चुकी है। अब तेरे हाथ में है चाहे उसे स्वीकारो या तिरस्कारो।

आदि जनजाति अरुणाचल प्रदेश के सियाङ जिले में निवास करती है। उनके एक प्रणय का नमूना यहाँ प्रस्तुत है-

''रोम-रोम में बसकर प्रिय
उस पार खड़े हो
पर मेरे मन में बहुत निकट
तुम दूर नहीं हो
कोई अवरोध नहीं आ सकता
हमारे मिलन में
प्रेम हमारा शाश्वत और अमर है।''

मिजोरम *मिजो* लोगों की आवास भूमि है। म्यांमार में भी मिजो लोग रहते हैं। मिजो भाषा सन् 1893 तक अलिखित रूप में प्रचलित थी। 1984 से मिजो रोमन लिपि में लिखी जाती है। अब मिजोरम विश्वविद्यालय में मिजो भाषा और साहित्य स्नातक तथा स्नातकोत्तर स्तर तक

Untitled-1 97 7/23/2010, 1:32 PM

पढ़ाई जाती है। नीचे पाँच मिजो प्रणय गीतों का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत है—

(1)

झूम खेती के रास्ते में
मेरी प्रिये तू दिखाई नहीं दी
रास्ता हो गया अगम्य गोचर और अंधकारमय।

(2)

मुझे है नहीं कोई परवाह नरक का
गर तुम रहती हो मेरे साथ
जिस तरह मुक्तिदाता ने त्यागा जीवन दुनिया के वास्ते
वैसे ही मैं तुम्हारे वास्ते प्राण देने को तैयार हूँ।

(3)

सबसे प्यारा है मेरा घर
जहाँ मैंने सुख जीवन बिताया
वहीं तो मैं मिला अपनी प्रेमिका से
हाय! अब तो घर उजड़ गया
चले गए चुनौती देनेवाले आखेट करने
मैं प्रेमिका की हँसी सुनने की आशा लिए अभी खड़ा हूँ।

(4)

मैंने चहूँ दिशा में ढूँढ़ा, पर देखा नहीं तुझसा कोई
तू तो है मेरी खुशी, मेरी प्यारी प्रियतमा
जब तू रहती नहीं मेरे पहलू में
दिन सारे लगते हैं लंबे-लंबे
मैं तुझे प्यार करता हूँ और चाहता हूँ
तू रहे मेरे साथ सदा
तेरे बिना ओ मेरी हृदयेश्वरी
मैं तो वैसा बन जाता हूँ जैसे हो जाते हैं पत्ते पेड़ से कटे।

(5)

तेरा मुखड़ा है आकर्षित डाली के पुष्प जैसा
मेरा प्यार कभी खत्म होने वाला नहीं
जब मैं विषण्ण रहता हूँ, अकेला व दुःखी
चाहता हूँ कि तू आए और दे सांत्वना

Untitled-1 98 7/23/2010, 1:32 PM

शिशिर ऋतु के भोर के समय भी
मैं महसूसता हूँ अपने को प्रेम विह्वल व दुःखी

तांखुल समुदाय : मणिपुर राज्य के पूर्वी दिशा में बर्मा की सीमा पर स्थित उखरूल जिले में तांखुल आदिवासी रहते हैं। इनके यहाँ युद्ध गीत और प्रणय गीत, तिथि त्योहारों के गीत और वात्सल्य को प्रदर्शित करने वाले गीत प्रचलित हैं। तांखुल समुदाय में अविवाहित लड़के-लड़कियों के लिए अलग-अलग शयनागार बने रहते हैं। जहाँ लड़के, लड़कियों के मिलने व परस्पर जानने और विवाह तय करने की सुविधा होती है। ऐसे एक शयनागार में आनेवाली लड़की एक साल पूर्व दूसरे देश में गए हुए अपने प्रेमी की दूर से सुनायी देनेवाली बाँसुरी की आवाज़ को पहचानकर यह गीत गाती है—

''ओह! यह मेरा बुलावा है
बाँसुरी की आवाज आ रही है
उसके शयनागार से
मेरे अंदर वह प्रतिध्वनि गूँज रही है
हाँ एक साल पूरे एक साल तक
तुम्हें आयी नहीं याद मेरी
अब आए हो यहाँ
अब होगा सही मिलन हमारा।''

(ख) पालने के गीत (लोरियाँ)

अब कुछ पालने के गीत (लोरियाँ) के नमूने नीचे प्रस्तुत हैं-

चकमा

(1)

नन्हें केले के पौधे सरीखा
कोमल है रे, गात बबुआ तेरा
रोने से बझ जाए गला तेरा
रोओ मत, सो जारे बबुआ मेरे, सो जा।

(2)

फूल सा है कोमल पालना तेरा
बुना है केड़क बेंत से सुंदर
रोओ मत, सो जा रे
बबुआ मेरे सो जा।
उबले आलू, रतालू से कोमल गात तेरा
सिरहाने गुरना रही है बिलाई, नोच खाएगी।

Untitled-1 99 7/23/2010, 1:32 PM

(3)

रतालू के पत्ते से कोमल गात तेरा
बिलायी का नाखून ईख के पत्ते से पैना
नोच के घायल रे कर देगी ये बिलाई
रोओ मत, सोजा रे बबुआ मेरे, सोजा।

(4)

वैद्य बटोर रहा है जंगल से जड़ी फूल
रोओ मत मेरे बबुआ
बाबा तेरा ला रहा है नारियल
तेरे लिए रंगून से
रोओ मत, सो जा रे, मेरे बबुआ, सो जा।

(5)

सोने का है पालना तेरा
चाँदी की डोरी से है बँधा
आँख मींच, मीठी नींद सोजा
रोओ मत, सो जा रे मेरे बबुआ, सो जा।

आदि समुदाय

''मैं देखना चाहती हूँ तुम्हें
युवा और ओजस्वी
जो अकेला कर ले शिकार
जंगली जानवरों का
मैं देखना चाहती हूँ तुम्हें
ऐसा धनुर्धर
बच न सके जिसके
निशाने से कोई हिरण
तुम्हें बनाना चाहती हूँ
ऐसा धावक
जो झट से पकड़ ले
लोमड़ी की पूँछ।

बोड़ो समुदाय

बोड़ो लोग असम की ब्रह्मपुत्र नदी के उत्तर किनारे में पूरब से पश्चिम तक फैले हुए हैं। 1990 के एक सर्वे के अनुसार बोड़ो बोलनेवालों की संख्या 6,83,007 है। पूर्वोत्तर भारत

Untitled-1 100 7/23/2010, 1:32 PM

में जो 30 प्रतिशत आदिवासी हैं, उनमें 30 प्रतिशत बोड़ो भाषी हैं। सन् 2003 में संविधान की अष्टम अनुसूची में बोड़ो भाषा सम्मिलित की गयी है। बोड़ो भाषा अब देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। स्नातकोत्तर स्तर तक बोड़ो भाषा का अध्ययन व अध्यापन होता है। सभी विधाओं में साहित्य इसमें लिखा जा रहा है। नीचे बोड़ो समुदाय के छह पालने के गीतों का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत है—

(1)

ओ चाँद दीदी आओ आओ
ओ चाँद दीदी आओ आओ
अगर तुम नहीं आती हो
एक केला ही दे दो।।

(2)

भुनी मछली चोरी कर
बैठी है मोटी बिल्ली
सिसक-सिसककर
रोना छोड़ दे मेरे लाल।।
मिजो समुदाय

मिजो महिलोओं को भी अन्य आदिवासी पहाड़ी महिलाओं के समान अधिक मेहनत करनी पड़ती है अपनी घर-गृहस्थी चलाने के लिए। पहाड़ी इलाकों में पीने का पानी पहाड़ी झरनों से भरकर लाना पड़ता है। महिलाओं को बाँस के खोलों में पानी भरकर दूर-दराज के इलाकों से लाना पड़ता है।

निम्नलिखित पालने के गीत में माँ बच्चों को सुलाते हुए कहती है कि वह जल्दी सो जाए नहीं तो उसके पानी भरने जाने में देरी हो जाएगी और सारा पानी दूसरी महिलाएँ भरकर ले जाएँगी।

"सो जा मुन्ना मेरे
सो जा
सो जा
मैं थपकियाँ देती हूँ
मुन्ना मेरे हमारे घर के पिछवाड़े में
एक नन्हा-सा झरना बहता है
उसका पानी शुद्ध और साफ है
पड़ोसिन ललङ्वी
सारा पानी भरकर ले जाएगी
सो जा मुन्ना मेरे

Untitled-1 101 7/23/2010, 1:32 PM

सो जा रे मुन्ना मेरे।

(ग) मूल स्थान व मूल पुरुषों की खोज :

आदिवासी समुदाय में अपने मूल स्थान के प्रति जहाँ से उनके पूर्वज वर्तमान स्थान पर आए हैं और अपने मूल पुरुष के प्रति अपार प्रेम रहता है। मूल स्थान तथा मूल पुरुष की सही पहचान के लिए वे उद्विग्न रहते हैं। दूसरे समुदायों से अपने को विशिष्ट और अलग अस्मिता स्थापित करते हुए अनेक लोक गीत व लोक गाथाएँ आदिवासी साहित्य में उपलब्ध है। अपनी भूमि के प्राकृतिक और खनिज संपदा पर वे गर्व करते हैं। मैदानी इलाके के लोगों के द्वारा अपनी भूमि पर कब्जा से वे दूखी होते हैं। मैदानी इलाके के लोगों को अपनी भूमि वे बेचना कतई पसंद नहीं करते। अपने मूल स्थान, मूल पुरुष एवं अपनी भूमि के प्रति जो अपार प्रेम से संबंधित खासी समुदाय और खुडुख समुदाय की काव्यात्मक अभिव्यक्ति के कुछ उदाहरण नीचे प्रस्तुत हैं—

खासी समुदाय

(1)

हे प्रातः काल के कांतिपुंज
हे पतंग, हे कौवे
थोड़ा इस पर प्रकाश डालो
तुम तो सारी पृथ्वी की परिक्रमा करते हो
बताओ न कि हमारी मूल मातृ भूमि कहाँ है
हमारे पूर्वज कहाँ से आये हैं? (कविः सोसोथाम)

(2)

उनका क्या जो जान पाएँगे नहीं
अपना गौरव जब वह नहीं रह जाएगा
जाज्वल्यमान पहाड़ियों के चातुर्दिक और
नीचे की गहरी तृण भूमि में
सभी भावी पीढ़ियों के लिए रहे यह ज्ञान
हम हैं हिन्यूट्रोप की संतान।।(कवि सोसोथाम)

आगे **खुडुक समुदाय**[2] के दो गीतों का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत है—

(1)

यह भूमि हमारी चहूँ ओर से
पहाड़-पर्वतों से घिरी-घिरी है
मत बेचो भाई दिकुओं[3] के हाथ।।

Untitled-1 102 7/23/2010, 1:32 PM

(2)

यह भूमि हमारी भाँति-भाँति के
खनिज-लवण से भरी-भरी है
यह भूमि हमारे भाँत-भाँत के
सोना रूपा से पटी-पड़ी है
मत बेचो भाई दिकुओं के हाथ।।

(घ) मृत्यु सार्वभौमक सत्य है। सभी महाकाल के अधीन हैं

मृत्यु से भयभीत नहीं होना चाहिए। मृत्यु के बाद आत्मा अपने वास्तविक प्रिय भूमि पर लौटती है। इस तरह के भाव को व्यक्त करते हुए खासी कवि अमजद अली (1868-1926) तथा बोड़ो के आधुनिक कवि रूपनाथ ब्रह्म ने अपनी कविताओं में जो कहा है उस भाव का हिंदी अनुवाद नीचे प्रस्तुत है—

खासी कविता

(1)

जाओ प्रिय मित्र, मैं भी आऊँगा
उस प्रिय भूमि की ओर चलते
मैं भी तो आ ही रहा हूँ।
घर की ओर लौटते हुए
भयभीत न हो
मैं तुम्हारे करीब ही हूँ
मैं कल आऊँगा
आज तुम आगे बढ़ो।
बोड़ो :
तुम किसे मानते हो पराया
यहाँ कोई नहीं है पराया
जो कहते हैं हमारा तुम्हारा
हमारा तुम्हारा कोई नहीं।
जहाँ से शुरू हुई थी यात्रा
जीवन के अंत में वहीं है समापन
सागर से आती हुई नदी
सागर में ही मिल जाती है।
हमारे लिए कोइै भिन्न नहीं
जीवन मरण समान ही है।

Untitled-1 103 7/23/2010, 1:32 PM

जैसे जल के हैं कई नाम
कई आधार
उसी तरह हम, उसी तरह तुम
पराया नहीं है पराया
अपनाना होगा जग को
सिर्फ अपना ही अपना नहीं है।
नफरत न करो गैरों से भाई
अंधियारे को दूर करो
सभी हैं यहाँ काल के अधीन!

(च) अन्याय को सहने का अर्थ है कि उसे समर्थन देना :

अन्याय के खिलाफ संघर्ष करते हुए शहीद होना ही जीवन की सार्थकता है। इस विचार को जटायु के माध्यम से आधुनिक बोड़ो कवि सुरथ नार्जरी अपनी कविता 'प्रथम शहीद' में यों कहते हैं—

अन्याय को सहने का अर्थ है समर्थन देना।
क्या तुम लोग यही चाहते हो?
नहीं तो अन्याय को रोकते हुए
कमजोर-ताकतवर का सवाल है कहाँ?
कहाँ है आगे-पीछे की भावना?
वैसे जान लो लंबी है मेरी आयु
धर्म और न्याय का पथिक मैं हूँ जटायु।
जो न्योछावर कर सकता है सत्य के लिए जान।
वही हूँ मैं, अनागत अनंत भविष्य का।
अग्रज शहीद
प्रथम शहीद।।?

(छ) आधुनिक जीवन का दारिद्र्य एवं
जीवन की जटिलताओं से मुक्ति की आकांक्षा :

बोड़ो कवि मनोरंजन लाहरी दारिद्र्य की पराकाष्ठा को अपनी कविता में यों व्यक्त करते हैं—

प्लेटफार्म पर
अस्थि पंजर बन डजन भर भिखारी
डाउन कामरूप एक्सप्रेस रेलगाड़ी

Untitled-1 104 7/23/2010, 1:32 PM

प्लेट फार्म पर आ सकती है।
मुसाफ़िरों की फेंकी हुई
उच्छिष्ट रोटी-सब्जी
उस पर वे कूद पड़ते गिद्ध की तरह।।

ब्रजेन ब्रह्म आधुनिक जीवन की जटिलताओं से मुक्ति की आकांक्षा लिये यों कहते हैं—

स्वतंत्र प्रकृति की
प्यार चाहलेवाली कपोत
भटकती हुई उड़ने के बावजूद
तोड़ नही पा रही अब तक
एक पिंजरा का बंधन
इसलिए हमें चाहिए
एक आकाश।।

(ज) हँसी मजाक़ :

आदिवासी समाज में हँसी-मजाक व विविध प्रकार के मनोरंजन करने वाले गीतों का भरमार है। ऐसे में दो गीत-एक **आदि समुदाय** का और दूसरा **सवर समुदाय** (सवर समुदाय ओड़ीसा और आंध्र प्रदेश की सीमा में रहता है। सवर भाषा आस्ट्रोएशियाटिक परिवार की मुंडा शाखा की भाषा मानी जाती है) से संबंधित यहाँ प्रस्तुत है।

आदि समुदाय

कहो, कौवे
क्या हुआ तेरे टाँगे को
कहा कौए ने
नदी का किनारा
था पत्थर भरा
उस पर था मैं खड़ा
रिबो विदोल नाम की थी वह मछली
जिसने मेरी टाँग पकड़ ली
जब मैंने मछली को खदेड़ा
पत्थर पर जा गिरा
मछली की हँसी छूटी
जब मेरी टाँग टूटी।।

Untitled-1 105 7/23/2010, 1:32 PM

सवर समुदाय

बहन की कसम
दीदी की कसम
झरने की तरफ से
कितनार सोता की तरफ से
उधर से आया हूँ
थका माँदा आया हूँ
थोड़ा सा ही सही
खाने की चीज मिले तो
दे देना।
चोंग के धुएँ को
चोंग की भाप को
पी लिया
भूख की कसम
प्यास की कसम
मैं तो बेहद
थक गया
चकनाचूर हो गया
मन में जो आये सो मत कहना
गाली गलौज मत देना
बहन की कसम
दीदी की कसम

(झ) आदिवासी स्त्री की पीड़ा

अब अंत में आदिवासी समाज की स्त्री की पीड़ा, वेदना और आवेदन पर गौर करेंगे तो सवर्ण स्त्री की पीड़ा व दर्द जो है स्त्रीवादी (नारीवादी) साहित्य में सभी भारतीय भाषाओं में अभिव्यक्ति पा रही हैं। कुछ आदिवासी समुदायों में स्त्री की स्थिति सवर्ण स्त्री की तुलना में बदतर है। स्त्री विमर्श के नाम से साहित्य जगत में एक नई सोच सामने आयी भी है। स्त्रीवादियों का मानना है कि पुरुषाधिपत्य से लाखों स्त्रियाँ दबी पड़ी हुई हैं। इनको केंन्द्र में रखकर इनकी विमुक्ति के लिए जो कविताएँ लिखी जाती हैं वे स्त्रीवादी कविताएँ हैं। लिंग विवक्षा अर्थात् समाज में पुरुष का सामान और स्त्री का अपमान तथा लिंग विभेदन अर्थात् समाज में पुरुष की भूमिका को श्रेष्ठ व महत्वपूर्ण और स्त्री की भूमिका को हीन व महत्वहीन आंका जाने की अवधारणा को लेकर स्त्रीवादी साहित्य कि विषय वस्तु का ताना बाना बुना हुआ है। सवर्ण नारियों की तुलना में दलित नारी की स्थिति अत्यन्त भिन्न एवं विलक्षण है तथा उनकी समस्याएँ

Untitled-1 106 7/23/2010, 1:32 PM

भी अन्यों से भिन्न होती हैं। जब दलित नारियों की स्थिति को सवर्ण नारियों की स्थिति से भिन्न मान लेते हैं तो आदिवासी समाज की नारियों की स्थिति उनसे भी भिन्न एवं अधिक संघर्षरत दिखाई देती है। अब आदिवासी नारियों में भी जागृति आयी है। वे अपनी पीड़ाओं एवं समस्याओं को साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त करने लगी हैं। इस आदिवासी नारीवादी साहित्य पर भी विचार विमर्श हो रहा है। स्त्रीवादी विमर्श में यह एक नयी शाखा के रूप में उभर रहा है। आगे मैं आदिवासी समुदाय की स्त्रीवादी कविताओं में से तीन आदिवासी भाषाओं-संथाली, खड़िया एवं नागपुरिया की कविताओं के उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

संथाली

संथाली भाषा की प्रमुख कवयित्री निर्मला पुतुल ने आदिवासी स्त्री को केंद्र में रखकर बड़ी संख्या में मार्मिक कविताएँ प्रस्तुत की हैं। इस आलेख में उनकी बहुचर्चित तीन संथाली कविताओं का हिंदी अनुवाद प्रस्तुत किया जा रहा है। उनकी प्रथम कविता का शीर्षक 'क्या तुम जानते हो?' है। इस कविता में वे पुरुष से पूछती है कि क्या वह स्त्री देह से परे उसके मन के परतों को कभी खोल कर देखा है, स्त्री को स्त्री दृष्टि से कभी देखा है? उसे वंश वृद्धि के लिए बच्चे पैदा करने वाला यंत्र मात्र ही समझा है? कविता की पंक्तियाँ नीचे उद्धृत हैं—

क्या तुम जानते हो
पुरुष से भिन्न
एक स्त्री का एकांत?
घर, प्रेम और जाति से अलग
एक स्त्री को उसकी अपनी जमान
के बारे में बता सकते हो तुम?
बता सकते हो
सदियों से अपना घर तलाशती
एक बेचैन स्त्री को
उसके घर का पता?
क्या तुम जानते हो
अपनी कल्पना में
किस तरह एक ही समय में
स्वयं को स्थापित और निर्वासित
करती है एक स्त्री?
सपनों में भागती है
एक स्त्री का पीछा करते
कभी देखा है तुमने उसे
रिश्तों के कुरुक्षेत्र में

Untitled-1 107 7/23/2010, 1:32 PM

अपने-आपसे लड़ते?
तन के भूगोल से परे
एक स्त्री के
मन की गांठें खोलकर
कभी पढ़ा है
तुमने उसके भीतर का खेलता इतिहास?
पढ़ा है कभी
उसकी चुपी के दहलीज पर बैठ
शब्दों की प्रतीक्षा में उसके चेहरे को?
उसके अंदर वंशबीज बोते
क्या तुमने कभी महसूसा है
उसकी फैलती जड़ों को अपने भीतर?
क्या तुम जानते हो
एक स्त्री के समस्त रिश्ते का व्याकरण?
बता सकते हो तुम
एक स्त्री को स्त्री-दृष्टि से देखते
उसके स्त्रीत्व की परिभाषा?
अगर नहीं!
तो फिर क्या जानते हो तुम
रसोई और बिस्तर के गणित से परे
एक स्त्री के बारे में...?

उनकी दूसरी कविता है 'क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए?'। इस कविता में पुरुष से ऐसे सवाल करती है जो सवाल आदिवासी स्त्री ही कर सकती है। आदिवासी घर में जो सामान्य वस्तु होती है, उन्हें स्त्री के प्रतीक मान कर ये प्रश्न किये गये हैं। अप्राणिवाचक वस्तुओं को स्त्री के प्रतीक के रूप में यहाँ पेश किया गया है। पूरी कविता का हिंदी अनुवाद नीचे प्रस्तुत है—

क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए?

एक तकिया?
क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए
कोई खूँटी
ऊब उदासी थकान से भरी
कमीज उतार कर टाँग दिया
या आँगन में तनी अरगनी
कि घर भर के कपड़े लाद दिये।।
कोई घर

Untitled-1 108 7/23/2010, 1:32 PM

कि सुबह निकला
शाम लौट आया।।
कोई डायरी कि जब चाहा
कुछ न कुछ लिख दिया।।
कि कहीं से थका माँदा आया
और सिर टिका दिया।
खामोश खड़ी दीवार
कि जब-जहाँ चाहा
कील ठोंक दिया।।
कोई गेंद कि जब तब
जैसे चाहा उछाल दिया।।
या कोई चादर
कि जब जहाँ जैसे तैसे
ओढ़ बिछा लिया।।
चुप क्यों हो?
कहो न, क्या हूँ मैं तुम्हारे लिए।।

निर्मला पुतुल की तीसरी कविता में आदिवासी स्त्री के प्रति पुरुष समाज का जो दृष्टिकोण है उसका पर्दाफाश करते हुए यों कहती हैं—

ये वे लोग हैं जो...

ये वे लोग हैं जो मुझे देख
नाक-भौं सिकोड़ते हैं
और गोरी चमड़ी से ढके चलते हैं।
अपना कालापन।।
ये वे लोग हैं जो दिन के उजाले में
मिलने से कतराते
और रात के अंधेरे में
मिलने का माँगते हैं आमंत्रण।।
ये वे लोग हैं जो
हमारे ही नाम पर लेकर-
गटक जाते हैं हमारे हिस्से का समुद्र।।

ये वे लोग हैं जो मुँह पर
करते हैं मेरी बड़ाई
और पीठ पीछे की

Untitled-1 109 7/23/2010, 1:32 PM

फुसफुसाहटों में देते हैं
बदनाम और बदचलन औरत की संज्ञा।।
ये वे लोग हैं
जो हमारे बिस्तर पर करते हैं
हमारी बस्ती का बलात्कार
और हमारी ही जमीन पर
खड़े होकर पूछते हैं हमसे हमारी औकात!।
ये वे लोग हैं जो मेरी कविताओं में भी
तलाशते हैं मेरी देह!...

खड़िया

खड़िया भाषा की युवा कवयित्री वंदना टेटे महिलाओं के उत्थान और उनके सवालों के समाधान सहित सामुदायिक विकास और झारखंडी भाषा साहित्य, संस्कृति की उन्नति के लिए कई स्तरों पर कार्य कर रही है। उनकी कविता 'कोनसेल' का हिंदी अनुवाद 'औरत' यहाँ प्रस्तुत है। इस कविता में वंदना टेटे ने स्त्री को उद्‌बोधित किया है कि वह पुरुष की दो मुँहे साँप जैसी नीति को पहचाने और अपनी अहमियत व उन्नति के लिए मोर्चा सँभाले। कविता का अनुवाद प्रस्तुत है—

औरत

कई-कई मोर्चे पर खड़ी
लड़ रही औरत।।
भीड़ में अकेली, अनवरत
थकती-टूटती
फिर मजबूर करती खुद को खुद से
खेतों, खलिहानों में
जंगल मरुभूमि में
घर में, आंगन में।।
तुम्हारी खींची लक्ष्मण रेखा
के खिलाफ़
उसने बो दिए हैं संघर्ष-बीज
और पिरो दिए हैं मधुर गीत
हताश होती और उलाहने देती
तुम्हारी नफ़रत भरी आवाज को
बना लिया है
उसने अपनी ताकत।।

Untitled-1 110 7/23/2010, 1:32 PM

नागपुरिया

आदिवासी महिला को घर और बाहर निरंतर कठिन परिश्रम करना पड़ता है। घर-द्वार संभालना पड़ता है। लेकिन उसे मर्द के असीम अत्याचार को सहना पड़ता है। अपने आसपास की शादी-शुदा औरतों की दीन दशा को देखकर नागपुरिया लड़की अपने माँ-बाप से विनती करती है कि शादी कराके उसे पराई घर न भेजे, वह लड़के के समान पैसा कमा कर माँ-बाप की सेवा करेगी। डॉ. मंजु ज्योत्सा की कविता विवाह का हिंदी अनुवाद नीचे प्रस्तुत है—

ब्याह

माँ, मेरी शादी मत करना
पिता, मेरी शादी मत करना।
मैंने देखी है—
'बुधनी' की जिंदगी
खूब सवेरे उठकर, भात पकाकर
बाल-बच्चे संभाल, खेत में खटती है।।
उसका जबर मर्द
सांझ, सवेरे, रात
जब चाहे तब उसे मारता है कितना
माँ मुझे पराए घर ना भेजना
मैं बेटे की तरह कमाऊँगी/मत भेजना
माँ मुझे दूसरे के घर न भेजना।।
मैंने देखी है—
'मंगरी' की जिंदगी
एकदम सवेरे काम समाप्त कर
भात बांध, बांध पर खटने जाती
बच्चों के खाने को दो पैसे कमाती
न घर, न खेत-खलिहान, न कामधाम
सांझ को उसके लाए पैसे भी
उसका हुरमुठ (उद्दंड) मर्द लात मारकर
लूटकर, मनमानी हंड़िया पीता
माँ, मुझे कुएँ में ढकेल देना
पर मेरा ब्याह मत करना।।
मैंने देखी है—
'सोमरी' की जिंदगी
हर वर्ष संतान सुख
मर्द दूसरों के पशु चराता

Untitled-1 111 7/23/2010, 1:32 PM

वह रसिक मर्द रात को भी
किस किस के संग सोता
निर्लज्ज। घर भी नहीं आता।
माँ भले ही मुझे मार डालना पर
मेरा ब्याह मत करना
पराए घर मत भेजना।।

सदियों से तिरस्कृत व प्रवंचित हमारा आदिवासी समुदाय जागृत हो रहा है। अपने दुख दर्द, पीड़ा एवं मैदानी इलाके के साहूकारों के शोषण को मार्मिक शब्दों में गीतों, कविताओं एवं अन्य साहित्यिक विधाओं के माध्यम से अभिव्यक्ति दे रहे हैं। इनके साहित्य का परिचय आदिवासेतर समुदाय को तभी प्राप्त होगा जबकि इन आदिवासी भाषाओं के साहित्य बड़ी मात्रा में अनूदित होकर इतर भाषाओं में आ जाएँ। यदि इनका साहित्य हिंदी में अनूदित हो जाए तो देश के अधिकांश पाठकों के सम्मुख पहुँच जाएगा। तदुपरांत दूसरी भारतीय भाषाओं में इसके अनुवाद की संभावना बढ़ जाएगी।

संदर्भ

1. बड़ोदरा स्थित भाषा संशोधन-प्रकाशन केंद्र द्वारा पश्चिम भारत की आठ आदिवासी भाषाओं- पावरी, देहवाली, अहिराणी, कुकुणा, डांगी, राठवी, पंचमहली भील, दुंगरी भील और भातु भाषाओं में इतर प्रदेशों की आदिवासियों द्वारा प्रस्तुत साहित्य एवं आदिवासियों के संबंध में हिंदी एवं इतर भाषा में उपलब्ध सामग्री का अनुवाद कराकर प्रकाशित करता है। ये आठों भाषाएँ देवनागरी लिपि में अंकित की जाती हैं। एक इलाके के आदिवासियों को दूसरे इलाके के आदिवासियों के बारे में जानने व समझने का अवसर प्रदान कर यह भाषा संशोधन-प्रकाशन केंद्र स्तुत्य कार्य कर रहा है। केंद्र द्वारा मार्च 1999 में पावरी देहवाली, अहिराणी भाषाओं की पत्रिकाओं में मेरी पुस्तक 'संस्कृति संगम : उत्तर पूर्वांचल' की रचनाओं का अनुवाद प्रकाशित हुआ है। पत्रिकाओं की मुख्य संपादिका हैं अरुणा जोशी।
2. खुडुक समुदाय छत्तीसगढ़ और झारखंड में रहता है।
3. मैदानी इलाके के लोगों के लिए प्रयुक्त शब्द।

Untitled-1 112 7/23/2010, 1:32 PM

यह इलाहाबाद है

शहर अपना चेहरा बदल रहे हैं। तेजी से। बदला इलाहाबाद भी है, मगर इतना नहीं कि अपनी पहचान ही गवाँ दे। इलाहाबाद मानो आज भी कह रहा है– 'कुछ बात है कि हस्ती मिटती नहीं हमारी!' इलाहाबाद के इस आत्मविश्वास के पीछे स्मृतियाँ हैं। जिनमें इसकी सांस्कृतिक सक्रियताओं वाला अतीत निरंतर कौंधता रहता है। पत्रकारिता और साहित्य के क्षेत्र में इलाहाबाद की जो प्रवर्तनकारी भूमिका रही, उसको भुलाया नहीं जा सकता। लेकिन सवाल यह है कि उसको किस तरह याद किया जाए कि इलाहाबाद तथाकथित विकास की वेदी पर अपनी विशिष्ट छवि की बलि होने के विरुद्ध रचनात्मक रूप में सक्रिय हो सके।

इसी सवाल से मुख़ातिब होते हुए हम यहाँ इलाहाबाद के उस इतिहास से प्रेरणा लेने का एक विनम्र उपक्रम कर रहे है, जिसमें इलाहाबाद की पत्रकारिता के कई अध्याय दर्ज हैं। साथ में स्व० उमाकांत मालवीय की एक रम्य रचना भी जिसमें सजीव होते चौक बाज़ार को आज के चौक बाज़ार से मिलाकर देखिये, तो वक़्त के गुज़रने का जितना एहसास होगा, उतना ही अपने 'न कुछ कर गुज़रने' का भी।

Untitled-1 113 7/23/2010, 1:32 PM

चौक बाज़ार : एक विनिमय–छंद

उमाकांत मालवीय

'क्या बड़े बाबू चल गयी?' सब्जीवाली को नया खरा दस का नोट पकड़ाते हुए देख, एक शरीर लड़के ने यह फिकरा उछाला। 'क्या चल गयी?' बड़े बाबू ने ताज्जुब से देखा।

'अरे, वही नोट' लड़के का उत्तर। सब्जीवाली ने शंकित दृष्टि से नोट को आकाश की ओर उठाकर देखा, जांचने परखने की उसकी मुद्रा से बड़े बाबू अपमानित-सा महसूस कर रहे थे। 'यह नोट नहीं चलेगी, दूसरी दो।' सब्जीवाली ने फैसला दिया।

'अरे, नयी खरी नोट है, नहीं कैसे चलेगी? बड़े बाबू ने हारते हुए वकील की तरह फटीचर जिरह की। 'कोई जबरदस्ती है? दूसरी जगह सब्जी ले लो।' सब्जीवाली ने सब्जी से कसे हुए बड़े बाबू के दोनों झोले उलटवा लिये। दुर्भाग्य से उस समय बड़े बाबू के पास वही एक इकलौता नोट था। आस-पास के सब्जीवाले, जो सब्जीवाली और बड़े बाबू का संकट सुन रहे थे, उन्होंने भी उस नोट पर बड़े बाबू को सब्जी नहीं दी। उनका सही असली नोट जाली घोषित हो चुका था। यह अफ़वाह सारे सब्जी बाजार में जंगली आग की तरह फैल गयी थी। गरज यह कि उस समय बड़े बाबू सब्जी लेकर घर नहीं जा पाये। घरैतिन ने उसकी क्या खबर ली होगी,यह तो राम जाने। परन्तु बड़े बाबू की आग्नेय दृष्टि उस शरीफ़ लड़के को बाजार भर में तलाशती रही, लेकिन वह क्योंकर मिलता, वह तो अपना काम कर चलता बना। इसी को कहते हैं, खाय के पर रहो, मार के टर रहो। आग अलाय जमाली बी दूर।

इस तरह का चुहल ठिठोलियों से खिलखिलाता खिलता खुलता, यह चौक बाजार है। इस शहरी बाज़ार में अब भी बूढ़े होते कस्बाई बाजार के चेहरे की झुर्रियों की शिनाख्त की जा सकती है। अभी यह नगर महानगर की विकृतियों से बाल-बाल बचा है।

लेन-देन, खरीद-फरोख्त, क्या खूब सौदा नकद है, इस हाथ दे उस हाथ ले, अनवरत स्पन्दित एक विनिमय छंद। इस छंद में भी भाव है। यह भावमय छंद है मोलभाव का, यह भावमय छंद है, न खरीद सकने के भाव का, यह भावमय छंद है कोलाहल का। इस चौक बाज़ार के एक सिरे पर पूर्व और दक्षिण के कोने पर वह तीर्थस्थान है, जहाँ महामना मालवीय

Untitled-1 114 7/23/2010, 1:32 PM

जनमे थे। मालवीय जी के इस फाटक के बाहर, मालवीय जी द्वारा स्थापित भारती-भवन पुस्तकालय है। इसी स्थान पर कभी स्वनामधन्य पत्रकार सी.वाई. चिन्तामणि का दरबार लगता था। लीडर के भारी भरकम खोपड़ीखाऊ सम्पादकीय लिखने के बाद सुकून चैन और राहत की तलाश में वे यहाँ नित्य प्रति आते रहे। पं. बालकृष्ण भट्ट, राजर्षि टण्डन ने इस बाजार और उसकी गतियों में अपने साहित्यिक एवं सार्वजनिक जीवन में नैतिकता के नये-से-नये उच्चतम कीर्तिमान स्थापित किये थे।

बाजार के दूसरे सिरे पर, अर्थात् पूर्व और उत्तर के कोने पर जिस्मफरोशी का बाजार मीरगंज है, जो अब क्रमशः वीरान हो रहा है। अस्मतफरोशी के इस बाजार में वह मकान खामोश खड़ा-खड़ा बतला रहा है कि मैं ही हूँ वह, जिसने मुल्क को उनका वजीरेआज़म अव्वल पं. जवाहरलाल नेहरू दिया है। यह स्वर्गीय जवाहरलाल जी का जन्म स्थान है।

इस बाजार का तीसरा सिरा यानी कि दक्षिण के कोने पर उर्दू शायरी में हास्य और तंज के बेताज बादशाह मरहूम जनाब अकबर इलाहाबादी का मुबारक दौलतखाना रहा है। यहीं से उन्होंने नायाब कहकहे और चुभते हुए तंज पेश किये हैं। यही मुल्क के लिए उनका नायाब तोहफ़ा है।

बाजार के हृदयस्थल पर शहीद बैजन का स्मृति स्तंभ है। इसके पश्चिम में कोतवाली के पड़ोस में नीम के वे दरख्त खड़े हैं, जिन पर सन् 1857 के बागियों को झाँसी पर लटकाया गया है। इन नीम के पेड़ों से बराबर एक सदा आती रहती है, 'कितनी निमिया कड़ुई, तबहूँ शीतल छाँह। कितनौ भैया बैरी, तबहूँ बाँह। अथवा 'देखना है जोर कितना बाजुए-कातिल में है' या 'खुश रहो अहले वतन हम तो सफ़र करते हैं।'

बाज़ार के दक्षिण में, ब्राह्मणतीर्थ अर्थात् मिठाई केन्द्र लोकनाथ की गली है। मिठाई की तेज खूशबू से नाक और पानी से मुँह भर आता है। यहीं वह लोकप्रिय नमकीन की दुकान है, जहाँ टोकियो विश्वविद्यालय के जापानी प्रोफेसर के.दोई जब तक प्रयाग में रहे, नियमित समोसा खाने के लिए आते रहे। प्रसिद्ध रूसी हिन्दी विद्वान चेलीशेव भी इस समोसे के गुदिया अर्थात् शौकीन रहे। प्रयाग प्रवास के क्रम में जब वे रूसी हिन्दी डिक्शनरी तैयार कर रहे थे। किसी हसीना की तारीफ में कहा गया विशेषण 'चक्कू' और पान की अच्छे बीड़े के लिए 'दिव्य पान' का विशेषण नोट किया था।

लोकनाथ बाजार से बाहर निकलते ही हम सराय मीर खाँ हलके में प्रवेश करते हैं। यहाँ सौ वर्ष से अधिक प्राचीन अचार और मुरब्बे, पापड़ एवं रेवड़ी, सोहनहलवा और पेठे की दूकानें हैं। इन दूकानों की मुद्रा में उनकी प्राचीनता की पैरवी मुखर है, 'बूढ़ मत जानो ठसक मोर भारी।'

तिलहन की इक्का-दुक्का दूकानों पर बातचीत सुनने से व्यवस्था की वास्तविकता और उसकी उद्घोषणा के बीच का दुखद अन्तराल उद्घाटित होता है। 'अमुक सामान क्या भाव है?' दूकानदार भाव बतलाता है। 'लेकिन आकाशवाणी तो कुछ और भाव बतलाता है?' 'तो फिर आकाशवाणी से खरीदारी करें बाबू साहब।' बातचीत के ये टुकड़े या इन जैसे अनेक टुकड़े उजागर करते हैं कि व्यवस्था की पकड़ व्यवसायी वर्ग पर कितनी है, कैसी है और वह

Untitled-1 115 7/23/2010, 1:32 PM

पकड़ कितनी प्रभावहीन है, कितनी दयनीय और अक्षम है।

देखते-देखते चीजें बाजार से गाायब होती हैं, नकली अभाव पैदा किया जाता है और मनमाने दाम वसूल किये जाते हैं। बजट में कर सम्बन्धी अभी निर्णय नहीं हुआ और बात केवल प्रस्ताव के स्तर पर ही है कि दाम बढ़ा दिये गये, गरज हो खरीदो, गरज हो मत खरीदो। जाओगे कहाँ? झख मारकर इधर आना ही पड़ेगा, आखिर घर गृहस्थी कैसे चलाओगे?

लोकतंत्र और आजादी बनवास से वापस लौटे तो ठेलेवालों की बन आयी, सारा का सारा रास्ता छेंक लिया गया, रास्ता चलना दूभर। अनधिकृत छेंक खाली कराना चाहें तो नेता जी सामने हाजिर। नीचे से ऊपर तक सबका अपना हिस्सा बँधा है, न तू कह मेरी, न मैं कहूँ तेरी। पूरे कुएँ में भाँग पड़ी है।

'अगर बर्तानिया हुकूमत के खिलाफ कुत्ता भी भौंकेगा तो उसकी आवाज में मैं अपनी आवाज मिला दूँगा।' मौलाना मदनी की यह गर्जना जिस मुहम्मद अली पार्क से गूँजी थी, जहाँ नेता जी सुभाषचन्द्र बोस और आचार्य कृपलानी ने स्वाधीनता संग्राम के दौरान जनता को संबोधित किया था, वहाँ अब शरणार्थियों की कपड़े की दुकानों की गुमटियाँ भरी पड़ी हैं। इसके जरा पहले इसी सड़क पर मिठाइयों की दूकानें हैं। दीपावली और दूज के अवसर पर इनकी होड़ देखने लायक होती है। लाउडस्पीकर से बराबर एक-दूसरे से दाम कम करने की घोषणा करते हुए लड्डू पहलवान शोर के अखाड़े में जोर आजमाइश करते रहते हैं।

मीरगंज जो कल तक केवल नगरवधू का इलाका था, वहाँ उसी समय से गुड़ की मण्डी है। इस मण्डी में गुड़ के साथ चीटों की भरमार है। मुझे यहाँ पर जेहन में कैलाश गौतम की पंक्तियाँ उभरने लगती हैं—

'टूटी कमर लिये अब भी कुछ चीटें गुड़ की भेलियों पर जुटे हुए हैं, अशक्तानां परम साधू की स्थिति है, वर्ग यह कम घुटे हुए नहीं है।'

इसी से लगा सर्राफा बाजार है, चाँदी-सोने की खरीद फरोख्त और दलालों की भीड़। यहाँ उन्हीं की चाँदी है। इस बाजार में या इन जैसे बाजारों में आदमी भी जिन्स की मानिन्द हैं, खरीदा बेचा जाता है।

यह चौक बाजार का घंटा घर है, जिसकी छाँव में यहाँ के वास्तविक जननेता पं. कल्याण चन्द्र उर्फ छुन्नन गुरू की प्रतिमा है। वह सार्वजनिक जीवन में नैतिकता के लज्जाजनक पतन की मूकदर्शिका बनी खड़ी है। अपने जीवन काल में ही छुन्नन गुरू किम्वदन्तियों के नायक बन गये थे।

चौक बाजार के प्रमुख चौराहे से दक्षिण, यह पंसारियों की पट्टी है; गन्धक शोरा, सूखे मेवे, हल्दी-जीरा आदि बेचने के क्रय में यहाँ लोगों की अधकपारी जैसे दर्द की झाड़-फूँक भी होती है। व्यवसाय और यह झाड़-फूँक, राम जाने क्या सम्बन्ध है इन दोनों में। थोड़ा और आगे बढ़कर, कुशासन, चटाई, पूजन के पंच पात्र, कण्ठी-मालाओं की दूकान है जहाँ केवल कफन और अन्त्येष्टि सम्बन्धी कपड़े ही बिकते हैं।

दूसरी पट्टी में छायादार म्यूनिस्पल मार्केट है, जिसमें फलों की पट्टी अलग, बिसाती की पट्टी अलग, खिलौनों की पट्टी अलग, नारी श्रृंगार प्रसाधन की पट्टी अलग, कपड़े की दूकानों

Untitled-1 116 7/23/2010, 1:32 PM

की पट्टी अलग है। शायरी के बाजार मुशायरों में गिरह लगायी जाती है, यहाँ गिरह काटी जाती है, हाथ की सफाई पेट के बदले, ऐसे सधे हुए हाथ कि पता ही नहीं चलता और पता भी चले तो पकड़ में नहीं आता यह गया वह गया। केवल इसी बिन्दु पर वहाँ समाजवाद है, राष्ट्रपति से लेकर केन्द्र एवं वित्तमंत्रियों से होते हुए गिरहकट सभी की नजर सभी के हाथ जनसाधारण की जेबों पर होते हैं।

इस म्यूनिस्पल मार्केट से दक्षिण वाली सड़क पर लाल डिग्गी है, इस पर कपड़े की दूकान, अल्मुनियम के बर्तनों की दूकानें और जूते चप्पलों की दुकानें हैं। बकरा ईद के दिनों में इस सड़क पर मरियल से तन्दरुस्त बकरों की खरीद फरोक्त होती है। इसके बाद दक्षिण की ओर अगली सड़क पर ठठेरी बाजार है। इस ठठेरी बाजार में ताँबा, पीतल, स्टेनलेस स्टील, अलमुनियम लोहे के बर्तन बिकते हैं। इस सड़क की रौनक धनतेरस अर्थात् धन्वन्तरिजयंती के दिन देखने लायक होती है। धनतेरस अर्थात् धन ते रस, धन से ही रस होता है, यह अर्थ उस समय अत्यन्त मुखर रूप में ध्वनित होता रहता है। ठठेर-ठठेर बदलौवल नहीं होता अर्थात् आपस में ही एक-दूसरे को मूर्ख बनाकर ठगा नहीं जा सकता। यह ठगना तो ग्राहकों के लिए होता है। यहाँ लगभग अठ्ठारह फीट ऊँची पीतल की हनुमान प्रतिमा बनायी गयी है। जिसे दशहरे के अवसर पर जुलूस में ठेले पर निकाला जाता है। दशहरे पर प्रतिवर्ष उन पर नये सिरे से रंग रोगन होता है। ऐसे ही एक दृश्य का रेखांकन डॉ.जगदीश गुप्त ने किया है, जिसका शीर्षक दिया है हनुमान जी की मरम्मत।

एक तो करैला दूसरा नीम चढ़ा, एक तो यूँ ही यहाँ भीड़-भाड़ के कारण चलना दूभर रहता है जिस पर जुलुम यह कि लगभग प्रतिदिन यहाँ चौराहे पर विभिन्न राजनैतिक दलों की सभायें होती हैं। वे भी अपना बाजार गरम रखते हैं, वे भी अपनी दुकान लगाते हैं, यह वेश्यावृत्ति उन्मूलन समिति के कर्मठ कार्यकर्ता हैं, वेश्यावृत्ति समाप्त करने की कल पुरजोर अपील और दलील से सौदा पटा रहे हैं। यह गरीबों के मसीहा परम समाजवादी हैं, भाषण में आग लगा देते हैं और कागज के अमुक व्यापारी को परमिट कोटा पाने एवं काला बाजार कराने में सहायक होते हैं। रिक्शावाला चार पैसे माँग ले तो, जेब काटो, डाका डालो, गरजते हुए उस पर रौब जमाते हैं, कल सभा में उसकी हाड़-तोड़ मेहनत और पसीने की दुहाई दे रहे थे। डालडा बाजार से गायब है, यह महज लल्लू जी का कलेजा है जो जरा सा मुनाफे पर वे डालडा बेच रहे हैं। यह कालाबाजारी के हिमायती हैं, मार्क्स के सीधे उत्तराधिकारी। यह कल सभा में भारतीय संस्कृति की दुहाई दे रहे थे, कुरीतियों रूढ़ियों से समाज को मुक्त करने की बात कर रहे थे, आज साढू के बेटे के लिए दहेज का मोलभाव कर रहे हैं, अभी-अभी मँहगुआ बगल से गुजरा तो ऐसा सिकुड़ गये जैसे बगल से कोई संक्रामक रोग गुजर रहा हो। कहाँ है वह कथनी करनी में समान रूप से धनी जो प्रचारित कर सके—

कबिरा खड़ा बाजार में माँगे सबकी खैर,
ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर।
कबिरा खड़ा बाजार में लिये लुकाठी हाथ,
जो घर जारे आपनो चले हमारे साथ।।

Untitled-1 117 7/23/2010, 1:32 PM

इलाहाबाद की पत्रकारिता

धनंजय चोपड़ा

अखबार उर्दू का। उम्र ढाई साल। प्रकाशित अंकों की संख्या पचहत्तर। कुल सम्पादकों की संख्या आठ। सभी सम्पादकों को कुल मिलाकर सजा हुई एक सौ पचीस सालों की। साथ में देश निकाला और काला पानी भी।..... पत्रकारिता के अब तक के इतिहास में शायद ही किसी अखबार को अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की इतनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी हो। रोमांच यह है कि एक सम्पादक को हुकूमत गिरफ्तार कर सजा सुनाती थी कि तुरन्त अखबार में नये संपादक के लिए विज्ञापन छाप दिया दिया जाता कि-''सम्पादक चाहिए, वेतन-दो सूखी रोटी, एक गिलास पानी और हर सम्पादकीय पर बन्दूक की गोली या बीस साल की सजा।'' विज्ञापन छपने की देर रहती कि पत्रकारिता पर कुर्बान हो जाने वाला एक सम्पादक तैयार हो जाता।..... यह कहानी है इलाहाबाद से छपने वाले उर्दू के अखबार 'स्वराज' की, जिसका ध्येय वाक्य था- 'हिंदुस्तान के हम हैं, हिंदुस्तान हमारा है।'' 1907 से यह अखबार निकलना शुरू हुआ और 1908 से ही इस पर अंग्रेजी हुकूमत के जुल्म-जोर की सत्यकथा प्रारम्भ हो गयी। शांति नारायण भटनागर, रामदास, होती लाल वर्मा, बाबू हरिदास, मुंशी राम सेवक, नंद गोपाल चोपड़ा, लद्धाराम कपूर व अमीर चंद बंबवाल ने इसके संपादक के रूप में जो प्रतिमान स्थापित किये, उन्हें छू सकना अभी तक भी किसी के लिए संभव नहीं हो पाया है।

वास्तव में इलाहाबाद में पत्रकारिता के प्रारम्भिक दिन रोमांच से भरे हुए थे। एक तरफ देश की स्वतंत्रता की लड़ाई का रोमांच था तो दूसरी तरफ अपनी भाषा को संस्कार देने और उसका प्रचार-प्रसार करने का संकल्प। यह वह समय था जब पूरे देश में हिंदी सहित लगभग सभी भाषाओं की पत्रकारिता आकार ले रही थी। वे दिन आजादी के लिए अंग्रेजी हुकूमत के खिलाफ़ संघर्ष करने के दिन थे। यदि अंग्रेज़ों के तरह-तरह के कुचक्रों से जनता को अगाह करना था तो साथ ही उन्हें उनके अधिकारों के प्रति जागरूक भी बनाना था। अंग्रेजी हुकूमत के गलत निर्णयों व आदेशों के खिलाफ़ यदि आवाज़ बुलंद करनी थी तो उन्हें लताड़ भी पिलानी थी। इलाहाबाद ने पत्रकारिता के इन सामयिक दायित्वों को बखूबी निभाया। साथ ही

Untitled-1 118 7/23/2010, 1:32 PM

हिंदी भाषा को नये-नये आयाम देने का भी काम किया और देश में पत्रकारिता व पत्रकारों पर होने वाले अत्याचारों के विरुद्ध आवाज बुलंद करने व संघर्ष करने की मुहिम चलाई। इस बात के दस्तावेज़ी प्रमाण उपलब्ध हैं कि देश में पत्रकारों की लड़ाई लड़ने में पं0 मदन मोहन मालवीय, मोतीलाल नेहरू, तेज बहादुर सप्रू और पुरुषोत्तम दास टण्डन जैसे नेताओं व कानूनविदों ने न केवल हर सम्भव सहयोग दिया, बल्कि गिरफ्तार होने वाले पत्रकारों-सम्पादकों के परिवारों के भरण-पोषण का जिम्मा भी उठाया। । ये सभी खुद भी पत्रकारिता से जुड़े हुए थे। एक तथ्य यह भी कि अंग्रेजों की दमनकारी नीतियों के विरुद्ध साझा रणनीति तय करने के उद्देश्य से पहली बार सम्पादकों का सम्मेलन इलाहाबाद में ही मदन मोहन मालवीय की अगुवाई में सम्पन्न हुआ।

एक बड़ी बात यह भी कि इस शहर ने अपनी गंगा-जमुनी संस्कृति का बेहतरीन उदाहरण पत्रकारिता में भी प्रस्तुत किया। देश में ऐसे बहुत कम शहर होंगे, जहाँ एक साथ आधा दर्जन भाषाओं में पत्रकारिता का उदाहरण मिलता हो। इलाहाबाद में हिंदी, उर्दू, अंग्रेज़ी के साथ-साथ मराठी, बंगाली और कश्मीरी भाषाओं में पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित-सम्पादित की गईं। पत्रकारिता के प्रति जन-विश्वास और पत्रकारों में इस जन-विश्वास के प्रति समर्पण का ही नतीजा था कि यहां से धार्मिक व जातीय पत्रिकाओं का भी प्रचुर मात्रा में प्रकाशन किया गया। बड़ी बात यह कि ये धार्मिक व जातीय पत्रिकाएं किसी फ़तवेदारी में न फंसकर वही काम कर रही थीं, जो उस समय के राष्ट्रीय पत्र-पत्रिकाएं कर रही थीं। पत्रकारों व साहित्यकारों ने सौ बरस पहले ही यह समझ लिया था कि यदि हमें भारतीय समाज को जागरूक करना है तो महिलाओं, किशोरों, युवाओं, छात्रों और बच्चों के लिए भी पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित करनी होंगी। यही वजह रही कि इलाहाबाद में जितनी अधिक इन सबके लिए पत्र-पत्रिकाएं प्रकाशित हुईं उतनी अन्यत्र नहीं। इस शहर ने साहित्यिक पत्रकारिता का वैविध्यपूर्ण सांचा तैयार करके हिंदी समाज को दिया।

सही बात तो यह थी कि उन दिनों के पत्रकारों और सम्पादकों में पाठकों की मनःस्थिति पढ़ लेने की अद्भुत् क्षमता थी। दुनिया के तमाम संचार शास्त्री जिस समय तरह-तरह की थ्योरियों और मॉडलों के सहारे सम्प्रेषण के नये नये पैमाने गढ़ रहे थे, उन दिनों हमारे सम्पादकों का कक्ष पत्रकारिता का विश्वविद्यालय बन चुका था। उस कक्ष में तात्कालिक रूप से जन सामान्य के मनोविज्ञान, आर्थिक-सामाजिक स्थितियों और शैक्षिक स्तर के अनुरूप न केवल भाषायी प्रस्तुति की टेक्नोलॉजी विकसित की जाती थी, बल्कि नये-नये प्रतिमान स्थापित कर दिये जाते थे। कहा जाता है कि 'लीडर' और 'इण्डियन प्रेस' में जो कुछ महीने काम कर लेता था, वह प्रशिक्षित पत्रकार व सम्पादक मान लिया जाता था। भाषायी महारत और कल्पना व विवेक के सहारे कथ्य की उत्पत्ति की क्षमता प्राप्त करना होता था तो इलाहाबाद में आकर कुछ दिन पत्रकारिता करनी होती थी। क्या यह बड़ी बात नहीं है कि सचित्र पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन इलाहाबाद में बहुत पहले ही प्रारम्भ कर दिया था। फोटोपत्रकारिता व कार्टून पर केन्द्रित पत्रिकाएँ भी इसी शहर से निकलनी प्रारम्भ हुईं।

इलाहाबाद की पत्रकारिता ने खुद को बनाये रखने के संघर्ष भी किये। बात 'हिंदी प्रदीप'

Untitled-1 119 7/23/2010, 1:32 PM

की हो, या लीडर की, कभी अंग्रेजी हुकूमत द्वारा लगाये गये जुर्माने को न भर पाने का संकट आया तो कभी पाठकों द्वारा शुल्क न भेजने का। कभी प्रिंटिंग टेक्नोलॉजी को अपडेट करने का संकट उत्पन्न हो गया तो कभी पत्रकारों-सम्पादकों के गिरफ्तार हो जाने का हर संकट से जूझने का जुनून पाले लोगों ने हार नहीं मानी। वे जूझते रहे और आगे बढ़ते रहे। वे कभी अंग्रेजी की करनी पर व्यंग्यात्मक कटाक्ष करते तो कभी चंदा न देने वाले पाठकों को लताड़ पिलाते। 'हिंदी प्रदीप' में शुल्क न देने वालों को सितम्बर 1892 के अंक में कुछ इस तरह लताड़ दी गई- ''हम उन महाशयों को फिर भी धन्यवाद देते हैं और निसन्देह हम उनके एहसानमंद हैं जो करावलम्ब की भांति दो ही एक बार में मांगने पर शुल्क भेज देते हैं पर उन चाण्डाल महापतियों को कौन सी उपाधि दें जो बरसों तक बराबर समाचार पत्र गटकते गये, माँगते-माँगते हैरान हो गये, मूल्य न पाया, सांगता की भांति दो आने और लगाये वी0पी0 भेजा सो भी लौट आया तब उनके नाम सियापा गाये चुप हो बैठे रहे।'' इस शहर में 'अभ्युदय' जैसे साप्ताहिक (बाद में दैनिक) भी प्रकाशित हुए, जिसमें यह अपील छापी जाती थी कि-'कृपा कर पढ़ने के बाद अभ्युदय किसी किसान भाई को दे दीजिए।'

इलाहाबाद की पत्रकारिता में एक बात और महत्वपूर्ण मिलती है कि जब भी कोई नया अखबार या पत्रिका प्रकाशित होना प्रारम्भ होती थी, तो उस समय के सभी पत्र-पत्रिकाएं उसका स्वागत करते हुए टिप्पणी जरूर प्रकाशित करते थे। यह वर्तमान समय की गला काट प्रतियोगिता वाली पत्रकारिता से एकदम भिन्न थी। बाद के दिनों में कमोवेश इलाहाबादी प्रवृत्ति का अनुसरण देश के कई अन्य पत्र-पत्रिकाओं ने किया। यहां की पत्रकारिता ने विशेषांकों और लेखकों को मानदेय की परम्परा का भी प्रारम्भ किया। पहले लेखकीय कर्म को स्वतः सुखाय मान लिया जाता था और उसका मानदेय या पारिश्रमिक नहीं दिया जाता था। मदन मोहन मालवीय ने जब इलाहाबाद से 'अभ्युदय' निकाला तो मानदेय की व्यवस्था की। पहला मानदेय महावीर प्रसाद द्विवेदी को उन्होंने भेजा था। राष्ट्रीय मुद्दों पर निर्भीक और दो टूक टिप्पणी पढ़ने के लिए इलाहाबाद की पत्र-पत्रिकाओं की बहुत मांग रहती थी। अंग्रेज हुक्मरान भी इन पर नज़र रखा करते थे। सन् 1927 में अखबारों के सम्बन्ध में जारी गोपनीय रिपोर्ट में सरकार की तरफ़ से लिखा गया-''युक्त प्रांत के पढ़े-लिखे भारतीयों को राजनीतिक मामलों की खबरें 'लीडर' से मिला करती हैं और इसी के आधार पर वे अपनी सम्मति निश्चित करते हैं। प्रांतीय कौंसिल में मि0 चिन्तामणि ने जो नेशनलिस्ट पार्टी कायम की है, उसके संगठन में उन्हें 'लीडर' से भारी मदद मिली है। यह पत्र प्रान्तीय सरकार के विरुद्ध निरंतर प्रचार करता रहता है और सरकार के पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे वह पत्र के आक्षेपों का जवाब दे सके।'' सच तो यह है कि इलाहाबाद की पत्रकारिता ने अपने समय में उस मंजावट और सामर्थ्य का विकास किया, जिसकी दरकार हर समय की पत्रकारिता को हुआ करती है। इसे समझने और जानने का बेहतर ढंग यही है कि हम हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी की पत्रकारिता के इतिहास के साथ-साथ बच्चों और महिलाओं के लिए निकलीं पत्र-पत्रिकाओं के दखल से भी वाकिफ़ हों।

Untitled-1 120 7/23/2010, 1:32 PM

हिंदी पत्र-पत्रिकाएँ

इलाहाबाद में हिंदी पत्रकारिता का प्रारम्भ 1868 में 'वृतान्त दर्पण' नामक पत्रिका के साथ हुआ। सदासुख लाल के सम्पादकत्व में निकली यह पत्रिका प्रारम्भ में विविध विषयों पर सामग्री प्रस्तुत करती थी; लेकिन बाद में यह कानून की पत्रिका हो गई। 20 जून 1874 को वकील रतन प्रकाश ने नाटक पर केंद्रीत मासिक पत्र 'नाटक प्रकाश' निकाल। इसी वर्ष पं.शिवराखन शुक्ल ने 'प्रयाग धर्म प्रकाश' नामक मासिक पत्रिका निकाला। हिंदी पत्रकारिता में इलाहाबाद का पहला बड़ा योगदान 1877 में 'हिंदी प्रदीप' के प्रकाशन के साथ हुआ। हिंदी-प्रचार के उद्देश्य से स्थापित हिंदी वर्धिनी सभा ने भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रेरणा से इसका प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इसके सम्पादन का भार पं.बालकृष्ण भट्ट ने सम्भाला, जो उन दिनों कायस्थ पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक थे। सभा के सदस्यों में अधिकतर युवा छात्र थे, जो चन्दा जुटाने का दायित्व सम्भालते थे। 'हिंदी प्रदीप' में विचारोत्तेजक लेख और आलोचनात्मक टिप्पणियां प्रकाशित होती थीं। 1978 में वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट पारित होने के बाद इस पत्र की परेशानियाँ बढ़ गईं और सम्पादक - व्यवस्थापक को जिला मजिस्ट्रेट के कार्यालय का चक्कर लगाने पर मजबूर होना पड़ा। हिंदी वर्धिनी सभा के अधिकांश युवा साथी इससे अलग हो गये। सभा ने 'हिंदी प्रदीप' को बंद करने का निर्णय लिया, लेकिन बालकृष्ण भट्ट ने इसके प्रकाशन की पूरी जिम्मेदारी स्वयं संभाल ली। 'हिंदी प्रदीप' देशोपकारक यंत्रालय से छपता था। 1891 से यह सरस्वती यंत्रालय से छपने लगा। इसका अग्रिम शुल्क तीन रुपये छह आने वार्षिक था। बाद में देने वाले से चार रुपये लिये जाते थे। पं. बालकृष्ण भट्ट 31 वर्षों तथा इस पत्र का सम्पादन-प्रकाशन करते रहे। 1908 में उनकी आंखों में मोतियाबिन्द हो जाने, उन्हें दिखाई देना बंद होने तथा आर्थिक संकट के कारण 'हिंदी प्रदीप' बंद हो गया।

'हिंदी प्रदीप' का प्रकाशन प्रारम्भ होने के कुछ ही वर्षों बाद 1882 में इलाहाबाद से 'प्रयाग समाचार' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। दो पृष्ठों वाले इस साप्ताहिक पत्र के सम्पादक देवकीनंदन तिवारी बनाये गये थे। एक पैसे मूल्य वाला यह पत्र शीघ्र ही आर्थिक संकट में फंस गया। परेशानियां बढ़ीं तो देवकीनंदन ने यह पत्र वैद्यराज जगन्नाथ शर्मा को सौंप दिया। जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, अमृतलाल चक्रवर्ती, बाबू शशिभूषण, गोपालराम गहमरी जैसे पत्रकारों की दीक्षा स्थली 'प्रयाग समाचार' ही था। इस बीच 1878 में 'कायस्थ समाचार' और 1881 में 'आरोग्य दर्पण'पत्रिकाओं का भी प्रकाशन हुआ। 1887 में 'गौर कायस्थ' नामक जातीय मासिक पत्र प्रकाशित हुआ। इसका वितरण केवल कायस्थ समाज के सदस्यों तक ही सीमित था। 1889 में 'प्रयाग मित्र' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक पं. जगन्नाथ शर्मा राज्य वैद्य ही थे, जो 'आरोग्य दर्पण' का सम्पादन कर रहे थे।

हिंदी पत्रकारिता में एक नये युग का प्रारम्भ 'सरस्वती' के प्रकाशन के साथ हुआ। 'सरस्वती' ने हिंदी भाषा को संस्कारित करने का दायित्व ही पूरा नहीं किया बल्कि साहित्यकारों व पत्रकारों की कई-कई पीढ़ियां भी तैयार कीं। इसका प्रकाशन प्रारम्भ करने का प्रस्ताव

Untitled-1 121 7/23/2010, 1:32 PM

इण्डियन प्रेस के मालिक बाबू चिन्तामणि घोष ने नागरी प्रचारिणी सभा में किया था। जनवरी 1900 में जब 'सरस्वती' का प्रथम अंक प्रकाशित हुआ तो उसके मुख पृष्ठ पर'नागरी प्रचारिणी सभा के अनुमोदन से प्रतिष्ठित' छपा था। प्रवेशांक के मुखपृष्ठ पर पाँच चित्र थे। सबसे ऊपर वीणावादिनी सरस्वती का, दाहिनी ओर ऊपर सूरदास और बाईं ओर गोस्वामी तुलसीदास के चित्र थे। इनके नीचे राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद और बाबू भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के चित्र थे। इसके सम्पादक मण्डल में बाबू राधाकृष्ण दास, बाबू कर्तिक प्रसाद, बाबू जगन्नाथदास, किशोरी लाल गोस्वामी शामिल थे। 1901 में बाबू श्यामसुन्दर दास 'सरस्वती' के सम्पादक बनाये गये। 'सरस्वती' के माध्यम से हिंदी की साहित्यिक पत्रकारिता व हिंदी भाषा के नव संस्कार के स्वर्णयुग का प्रारम्भ 1903 से तब होना प्रारम्भ हुआ, जब इसके सम्पादन का दायित्व पं0 महावीर प्रसाद द्विवेदी ने सम्भाल लिया। यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगा कि द्विवेदीजी ने कुछ ही महीनों में 'सरस्वती' को हिंदी की राष्ट्रीय पत्रिका होने का गौरव हासिल करा दिया। यह वह समय था, जब हिंदी का हर सक्रिय रचनाकार 'सरस्वती' से जुड़ा हुआ था। इनमें प्रमुख रूप से श्यामसुंदर दास, कार्तिक प्रसाद खत्री, राधाकृष्ण दास, जगन्नाथ दास रत्नाकर, किशोरीलाल गोस्वामी, संतनिहाल सिंह, पं. माधवराव सप्रे, पं. रामनरेश त्रिपाठी, अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, जयशंकर प्रसाद, सूर्यकांत त्रिपाठी निराला, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारी सिंह दिनकर आदि शामिल हैं। 1903 से 1920 तक द्विवेदी जी सरस्वती के सम्पादक रहे। उनके बाद 1921 में पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी उनके उत्तराधिकारी नियुक्त हुए और देवीदत्त शुक्ल उनके सहायक बनाये गये। 1925 में बख्शी जी ने 'सरस्वती' का साथ छोड़ दिया तो देवीदत्त शुक्ल को सम्पादक बनाया गया। शुक्ल जी ने हिंदी पत्रिकाओं में विशेषांक निकालने की परम्परा का प्रारम्भ किया। 1927 - 28 में बख्शी जी एक बार फिर 'सरस्वती' के सम्पादक बने। लेकिन, 1929 से 1946 तक पुनः देवीदत्त शुक्ल सम्पादक बने रहे। ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने इनके सहायक के रूप में योगदान दिया। बाद के दिनों में उमेश चन्द्र मिश्र, बख्शीजी, देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त', श्री नारायण चतुर्वेदी ने सम्पादन का कार्यभार सम्भाला और पत्रिका को नये आयाम दिये।

धार्मिक विषयों पर आधारित मासिक पत्रिका 'श्री राघवेन्द्र' का प्रकाशन द्वारिका प्रसाद शर्मा ने किया। यह पत्रिका 1903 से 1914 तक लगातार प्रकाशित होती रही। 1905 में एक अन्य पत्रिका 'कवीन्द्र वाटिका' का प्रकाशन हुआ। यह साहित्यिक पत्रिका थी, विशेषकर कविताओं की। ऐसा माना जाता है कि इसका प्रकाशन इलाहाबाद में उपस्थित कवियों की प्रेरणा से हुआ था। कुछ अंकों के प्रकाशन के बाद यह पत्रिका धनाभाव का शिकार हो गयी। हिंदी पत्रकारिता का नया अध्याय 'अभ्युदय' के प्रकाशन के साथ प्रारम्भ हुआ। महामना मदन मोहन मालवीय ने वसंत पंचमी 1907 को इसका प्रकाशन इस उद्घोष के साथ किया कि 'हमारी अभिलाषा मंद नहीं है। पृथ्वी मंडल पर जितने पर्वत हैं उनमें सबसे ऊंचा पर्वत नगाधिराज हिमालय है। हमारी अभिलाषा है कि हमारे देश का अभ्युदय भी उतना ही ऊँचा हो।' 'अभ्युदय' नाम 'हिंदी प्रदीप' के सम्पादक पं. बालकृष्ण भट्ट ने दिया। सम्पादन सहयोगी के रूप में पुरुषोत्तम दास टण्डन, गणेश शंकर विद्यार्थी, वेंकटेश नारायण तिवारी आदि थे।

Untitled-1 122 7/23/2010, 1:32 PM

यह पहले साप्ताहिक, फिर अर्ध साप्ताहिक और अंत में 1915 में दैनिक हो गया। अभ्युदय स्वतंत्रता संग्राम और कांग्रेस का पक्षधर था। इसमें न तो अपराध और बलात्कार की खबरें छपती थीं और न ही विज्ञापन। महामना मालवीय जी के बाद इसका सम्पादन कृष्णकांत मालवीय, प्दमकांत मालवीय और देवदत्त शास्त्री ने सम्भाला। 'अभ्युदय' के सुभाष बाबू और भगत सिंह पर निकले अंक देश भर में चर्चित हुए। सन् 1907 में श्रीधर प्रसाद के सम्पादकत्व में 'कुल भास्कर' नाम की मासिक पत्रिका निकली। भारतीय वैद्यक संस्था का मासिक पत्र 'सुधानिधि' (सं0 जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल) भी 1907 में इलाहाबाद से निकला। आयुर्वेदिक औषधि और उपचार का ज्ञान कराने वाली यह पत्रिका तीन वर्ष से भी अधिक समय तक प्रकाशित होती रही।

महात्मा अरविन्द घोष के 'कर्मयोगी' और लोकमान्य तिलक के 'केसरी' से प्रेरणा लेकर पं. सुन्दरलाल ने इलाहाबाद से 1901 में हिंदी पाक्षिक 'कर्मयोगी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसके हर शब्द में राष्ट्र के प्रति समर्पण और भारतीय समाज के उत्थान का आकांक्षा ही झलकती थी। इसकी बढ़ती लोकप्रियता और प्रसार संख्या को देखते हुए 1910 में इसे पाक्षिक से साप्ताहिक कर दिया गया, लेकिन आठ माह की आयु ही अंग्रेजी हुकूमत ने इस बंद करने पर मजबूर कर दिया। दो अक्टूबर 1938 को 'चांद' के सम्पादक ने लखनऊ से इसे साप्ताहिक के रूप में प्रकाशित करना प्रारम्भ कर दिया। छह अंकों बाद ही यह बंद हो गया। जून 1939 से यह मासिक पत्र होकर एक बार फिर इलाहाबाद से निकलना प्रारम्भ हुआ। अपनी निर्भीकता के कारण 'कर्मयोगी' ने कम समय में ही हिंदी पत्रकारिता के नये प्रतिमान स्थापित कर दिये थे। दूसरे महायुद्ध के दौरान आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह समाचार पत्र बंद हो गया। नवम्बर 1910 में 'मर्यादा' मासिक पत्रिका का सम्पादन प्रारम्भ हुआ। महामना मदन मोहन मालवीय द्वारा ही इसका भी प्रारम्भ हुआ। यह कहा जा सकता है कि लक्ष्मीधर वाजपेयी के सम्पादकत्व व कृष्णकांत मालवीय के सहकारत्वमें निकली यह पत्रिका पहली सर्वांगपूर्ण पत्रिका थी। 1920 तक यह पत्रिका इलाहाबाद से ही निकली। बाद में महामना के वाराणसी चले जाने पर इसका प्रकाशन ज्ञानमण्डल प्रेस द्वारा होने लगा तथा इसके सम्पादक डा0 सम्पूर्णानन्द बनाये गये। उनके जेल जाने पर कुछ दिन तक सम्पादन का कार्यभार प्रेमचन्द ने सम्भाला। अंतिम अंक अप्रैल 1923 में छपा। 'प्रवासी विशेषांक' के रूप में निकले इस अंक का संपादन बनारसी दास चतुर्वेदी ने किया था। जातीय पत्रिकाओं के क्रम में 'श्री सरयूपारीय' का नाम उल्लेखनीय है। 1912 में निकली इस मासिक पत्रिका के सम्पादक इन्द्रदेव चतुर्वेदी थे।

इलाहाबाद की पत्रकारिता में आज तक अपनी उपस्थिति दर्ज कराती आ रही पत्रिकाओं में 'सम्मेलन पत्रिका' और 'विज्ञान' का नाम उल्लेखनीय है। अक्टूबर 1913 में हिंदी साहित्य सम्मेलन के मुखपत्र के रूप में प्रारम्भ हुई 'सम्मेलन पत्रिका' के आद्य सम्पादक गिरजा कुमार घोष थे। इस पत्रिका का मुख्य उद्देश्य हिंदी भाषा का प्रचार-प्रसार करना तथा बोध परक रचनाओं का प्रकाशन करना रहा है। इसके सम्पादक के रूप में इन्द्रनारायण द्विवेदी, वियोगी हरि, भगीरथ प्रसाद दीक्षित, धीरेन्द्र वर्मा, गुरुप्रसाद टण्डन, उदयनारायण तिवारी, भगवती

Untitled-1 123 7/23/2010, 1:32 PM

चरण वर्मा, रामकुमार वर्मा, ज्योतिप्रसाद निर्मल, अज्ञेय, दयाशंकर दुबे, रामनाथ सुमन, राम प्रताप त्रिपाठी, डॉ. सत्यप्रकाश मिश्र ने योगदान दिया। वर्तमान में हिंदी साहित्य सम्मेलन के प्रधानमंत्री विभूति मिश्र इसके संपादक हैं। 'विज्ञान' यह हिंदी की पहली वैज्ञानिक विषयों की मासिक पत्रिका है, जो 1915 से लगातार प्रकाशित होती आ रही है। विज्ञान परिषद से प्रकाशित होने वाली इस पत्रिका को प्रारम्भ करने का श्रेय लाला कर्मचन्द्र भल्ला को जाता है। इसके प्रथम संपादक लाला सीताराम व पं. श्रीधर पाठक थे। इन दिनों इसका संपादन विज्ञान परिषद के प्रधानमंत्री डॉ. शिव गोपाल मिश्र कर रहे हैं। इलाहाबाद से ही 'युगान्तर' नामक हिंदी साप्ताहिक के प्रकाशित होने का उल्लेख मिलता है 1938 में जब कोलकाता से 'युगान्तर' नामक दैनिक समाचार पत्र निकला तो इलाहाबाद के 'युगान्तर' का नाम बदल कर 'देशदूत' कर दिया गया। 'देशदूत' के संपादन का दायित्व श्रीनाथ सिंह, ज्योति प्रसाद मिश्र 'निर्मल', अनंत प्रसाद विद्यार्थी ने निभाया। इलाहाबाद से हास्य-व्यंग्य पर केन्द्रित पहली पत्रिका 'मदारी' 1917 में निकली। एम0पी0 श्रीवास्तव के सम्पादकत्व में निकली इस साप्ताहिक पत्रिका में 'मदारी का सोंटा', 'बानर का नाच', 'घंटाघर के कंगूरे से' 'डमरू की डिम डिम' आदि स्थाई स्तम्भ होते थे। अंग्रेजी हुकूमत पर व्यंग्य कसकर चिढ़ाने वाली इस पत्रिका का मूल्य दो पैसा था। 1917 में ही पं. चन्द्रशेखर शास्त्री के सम्पादन में 'सन्यासी' नामक मासिक पत्रिका निकली। यह धर्म व समाज पर आधारित पत्रिका थी, जिसका जीवन अल्प ही रहा। 1918 में गारफील्ड विलियम और सत्यानंद जोशी के सम्पादकत्व में 'सहकारी' पत्र निकला।

अंग्रेजों के खिलाफ आवाज बुलंद करने वाले समाचार पत्रों में 'भविष्य' का एक अलग स्थान है। 'कर्मयोगी' का सम्पादन कर चुके स्वतंत्रता संग्राम सेनानी सुन्दरलाल ने 1919 में 'भविष्य' का सम्पादना प्रकाशन शुरू किया। अंग्रेजों ने इससे क्रमशः 3000-5000 और 10000 रुपये की जमानत मांगी। अपने समय के प्रसिद्ध वकील तेज बहादुर सप्रू ने जमानत निरस्त कराने का पुरजोर प्रयास किया, लेकिन सफलता नहीं मिली। 'भविष्य' बंद हो गया। 1920 में पुनः शुरू हुआ। इस बार प्रेस की स्थापना भी हुई। शीघ्र ही यह पत्र लोकप्रिय हो गया और इसकी प्रसार संख्या 2000 तक पहुँच गयी। कुछ दिनों बाद गांधी जी के आदेश पर सुन्दरलाल मध्यप्रांत चले गये। 'भविष्य' की जवाबदारी पं. मोतीलाल नेहरू पर छोड़ दी गई। जब 'भविष्य' से 25000 रुपये की जमानत मांगी गई, तब यह पत्र बंद हो गया। 1920 में ही लक्ष्मीचन्द्र जैन के सम्पादकत्व में जैन ब्रदर्स एसोसिएशन की ओर से द्विभाषी त्रैमासिक पत्रिका 'जैन हास्टल मैगजीन' का प्रकाशन किया गया। हिंदी व अंग्रेजी में छपने वाली इस पत्रिका में कविता, कहानी, जीवन चरित्र, समालोचना, विज्ञान, मनोविज्ञान, आदि विषय सम्मिलित होते थे। इसका वार्षिक शुल्क एक रुपया आठ आना होता था।

इलाहाबाद की हिंदी पत्रकारिता की बात करते समय 'चांद' का नाम बड़े ही गर्व के साथ लिया जाता है। नवम्बर 1922 में रामरख सिंह सहगल ने महिलाओं के विषयों को केन्द्र में रखकर इस मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया था, लेकिन जल्दी ही इस पत्रिका का दायरा बढ़ा और यह सामाजिक सरोकारों की सम्पूर्ण पत्रिका बन गई। अपनी प्रखरता और प्रस्तुति के कारण यह शीघ्र ही हिंदी जगत की लोकप्रिय पत्रिका बनी और एक समय तो इसकी

Untitled-1 124 7/23/2010, 1:32 PM

प्रसार संख्या 15000 पहुंच गयी। 1925 में वैश्य अंक, 1927 में अछूतांक, 1928 में फांसी अंक इस पत्रिका द्वारा हिंदी पत्रकारिता के विकास में दिये गये अप्रतिम उपहार हैं। 1929 में इसका उर्दू संस्करण निकालने का प्रयास हुआ, लेकिन आगे जारी नहीं रखा जा सका। अक्टूबर 1932 में हिंदी जगत में एक नई पहल हुई। 'चांद' ने शेयर जारी किये, ताकि विस्तार और विकास के लिए वित्तीय संसाधन जुटाये जा सकें, लेकिन 'मारवाड़ी अंक' के बाद गिरती प्रसिद्धि व प्रसार संख्या को रोका न जा सका। 1940 के आते-आते 'चांद' का अवसान हो गया। चांद के सम्पादन से महादेवी वर्मा भी जुड़ी रहीं, उनके संपादन में 'विदुषी अंक' निकाला बहुत चर्चा रहा। तब इसके प्रबंध निदेशक निरंजन लाल भार्गव थे। जातीय पत्रिकाओं के क्रम में 1924 में ब्राह्मण समाज की मासिक पत्रिका 'द्विजराज', 1924 में ही भवानी प्रसाद गुप्त के सम्पादन में निकले साप्ताहिक 'अग्रहरि जीवन' तथा छोटे लाल केसरवानी के सम्पादन में निकले मासिक पत्र 'केसरवानी' का नाम जुड़ गया।

इलाहाबाद से ही 30 अगस्त 1928 को वेंकटेशनारायण तिवारी के सम्पादन में सचित्र हिंदी साप्ताहिक 'भारत' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। जल्दी ही यह पहले अर्ध साप्ताहिक और फिर दैनिक हो गया। यह लीडर प्रेस से प्रकाशित होता था। इसके सम्पादकों में नन्ददुलारे वाजपेयी भी शामिल थे, जिन्हें आगे चलकर हिंदी साहित्य आलोचक के रूप में प्रसिद्धि मिली। आजादी के बाद इसके सम्पादन का कार्यभार शंकर दयाल श्रीवास्तव, मुकुन्ददेव शर्मा न ओंकार शरद ने भी सम्भाला। इसमें रंगा के कार्टून भी छापे जाते थे। कुम्भ मेले के दौरान 'भारत' का चार पृष्ठों का सांध्य कालीन संस्करण 'कुम्भ मेला समाचार' के नाम से निकलता था। 'भारत' बीसवीं सदी के अस्सी के दशक तक निकलता रहा। 1928 में ही 'भारतेन्दु' नामक हिंदी मासिक का प्रकाशन शुरू हुआ। इसके सम्पादक ज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' थे। आर्थिक अभाव के कारण यह नियमित रूप से नहीं निकल पाता था और अन्ततः बंद हो गया। 1929 में 'लेखक मण्डल प्रभाग' संस्था ने अपनी मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया। 'अरुणोदय' नाम की इस पत्रिका के सम्पादक सच्चिदानंद शर्मा थे। बाद में यह पत्रिका साप्ताहिक हो गई। इसी वर्ष शिवमूर्ति के सम्पादकत्व में 'कांग्रेस समाचार' साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। आठ पृष्ठों वाले इस पत्र का वार्षिक मूल्य एक रुपया रखा गया था।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी की त्रैमासिक पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' का प्रकाशन जनवरी 1930 में प्रारम्भ हुआ। पहले यह हिंदी व उर्दू दोनों भाषाओं में प्रकाशित होती थी। हिंदी के सम्पादक रामचन्द्र टण्डन तथा उर्दू के सम्पादक मौलवी असगर हुसैन थे। बाद के दिनों में कई प्रमुख हिंदी भाषाविदों व साहित्यकारों ने इसका सम्पादन किया तथा कई महत्वपूर्ण व संग्रहणीय विशेषांक निकाले। जनवरी 1930 में ही देश की प्रसिद्ध पत्रिका 'माया' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। मित्र प्रकाशन की इस पत्रिका के सम्पादक द्विजेन्द्र नाथ मिश्र थे। इनका नाम प्रकाशक क्षितीन्द्र मोहन मित्र के साथ छपता था। प्रारम्भ में यह कहानियों की पत्रिका था। बाद में अस्सी के दशक में इसका रूपान्तरण समाचार पत्रिका के रूप में हुआ और इसकी अलग पहचान बन गई। 2002 में माया के प्रकाशन में अवरोध उत्पन्न हुए। इसका प्रकाशन बंद करना पड़ा।

कथाकार इलाचन्द्र जोशी के सम्पादकत्व में 1931 में 'विश्ववाणी' मासिक पत्रिका

Untitled-1 125 7/23/2010, 1:32 PM

निकली। ठीक इसी समय यह पत्रिका कोलकाता से भी डॉ0- हेमचन्द्र जोशी के सम्पादकत्व में निकली। जोशी बन्धु इससे पहले 'विश्वमित्र' नामक मासिक पत्र निकाल रहे थे।'विश्ववाणी' विदेशी साहित्य पर केन्द्रित पत्रिका थी। इसके पहले अंक में प्रकाशित इलाचन्द्र जोशी की कविता 'नृत्य' अंग्रेजी हुकूमत को नहीं भायी। सम्पादकद्वय पर राजद्रोह का मुकदमा चला। दो-दो हजार रुपये जुर्माना लगा। लिहाजा विश्ववाणी का दूसरा अंक नहीं निकल सका। 1941 में विश्ववाणी के पुनर्प्रकाशन का उल्लेख मिलता है। 1931 में 'विद्या' मासिक पत्रिका निकली, जिसके सम्पादक उमाशंकर थे। 1933 में हास्य-व्यंग्य का पाक्षिक पत्र 'मदारी' प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक बलभद्र प्रसाद गुप्त थे। 22 जनवरी 1935 को 'हिन्दुस्तान' नामक साप्ताहिक ज्योति प्रसाद निर्मल के सम्पादकत्व में। अप्रैल 1937 में 'सत्ययुग' नामक मासिक पत्रिका निकली सम्पादक सत्यभक्त थे। अंधविश्वास के खिलाभ जंग छेड़ने वाली इस पत्रिका में कार्टून भी छापे जाते थे प्रकाशित हुआ। इसका वार्षिक शुल्क तीन रुपये रखा गया था। 1939 में 'नया हिन्दुस्तान' से एक नये साप्ताहिक का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक सज्जाद जहीर और शिवदान सिंह चौहान थे। 17 दिसम्बर 1939 का इसका अंक अंग्रेजी सरकार द्वारा जब्त कर लिया गया था। यह पत्र जब तक निकला विदेशी हुकूमत के खिलाफ जंग छेड़ता रहा। 1939 में ही प्राकृतिक चिकित्सा पर केन्द्रित मासिक पत्रिका 'जीवन सखा' का प्रकाशन बालेश्वर प्रसाद सिंह ने प्रारम्भ किया। इसके सम्पादक बृजभूषण मिश्र थे। तीन रुपये वार्षिक शुल्क वाली यह पत्रिका एक दशक तक प्रकाशित होती रही।

सन् 1940 में कहानियों की दो पत्रिकाओं का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। पहली 'नई कहानियाँ' और दूसरी 'मनोहर कहानियां। 'नई कहानियां' चांद प्रेस से निकली। इस मासिक पत्रिका के पहले सम्पादक नृसिंह राम शुक्ल थे। 'मंनोहर कहानियां' मित्र प्रकाशन से निकली। 1973 में इस पत्रिका को सत्यकथाओं पर केन्द्रित कर दिया गया। इसकी प्रसार संख्या बहुत अधिक थी। सदी के अंत में प्रकाशन परिवार के आपसी झगड़ों के कारण यह पत्रिका बंद हो गई। 1940 में ही विविध विषयों का समावेश रखती हुई 'तरुण' व 'गुलदस्ता', भी प्रकाशित होना प्रारम्भ हुई। 'तरुण' मासिक पत्र था। इसमें तरुणों को ध्यान में रखकर विषयों का चयन किया जाता था। इसके सम्पादक कृष्णनंदन प्रसाद थे। कर्मयोगी प्रेस से 'गुलदस्ता' मासिक पत्रिका निकला। मनोरंजन प्रधान इस पत्रिका का सम्पादन आर. सहगल ने किया। फोटो-पत्रकारिता का अप्रतिम उदाहरण भी इलाहाबाद से ही प्रस्तुत होना प्रारम्भ हुआ, जब 1941 में 'सचित्र संसार' मासिक पत्र का प्रकाशन यहां से हुआ। श्रीनारायण चतुर्वेदी इसके सम्पादक थे। पत्रिका में देश-विदेश की घटनाओं, प्रसिद्ध इमारतों, मशीनों, हथियारों, कलाकृतियों आदि को चित्रों के माध्यम से पाठकों को समझाने का प्रयास किया जाता था। 'कर्मयोगी' और 'भविष्य' जैसे पत्रों का संपादन कर चुके पं. सुन्दर लाल ने 1941 में मासिक पत्रिका 'विश्ववाणी' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। विश्वम्भरनाथ इसके सम्पादक थे। 1941 में 'प्रतीक' नामक पत्रिका अज्ञेय के और इसी के आसपास महादेवी वर्मा के संपादन में 'साहित्यकार' तथा अमृतराय के संपादन में 'हंस' निकली। विश्ववाणी की प्रखरता अंग्रेजी शासन को नहीं भायी और 1942 में पं. सुन्दरलाल और विश्वम्भरनाथ को जेल जाना पड़ा, तब अख्तर हुसैन

Untitled-1 126 7/23/2010, 1:32 PM

रामपुरी ने पत्रिका का सम्पादन किया। 1944 में रिहा होने के बाद विश्वम्भरनाथ ने फिर सम्पादन भार सम्भाला। भारतीय भाषा-संस्कृति पर आधारित अंकों के साथ-साथ विश्व के कई देशों तथा उनकी भाषा-संस्कृति पर आधारित अंक भी काशित किये गये।

अखिल भारतीय शाक्त सम्मेलन में लिये गये संकल्प के अनुसरण में अप्रैल 1942 में मासिक पत्रिका 'चण्डी' का प्रकाशन हुआ। इसके सम्पादक देवीदत्त शुक्ल थे। बाद में इसके सम्पादन से ठाकुरदत्त मिश्र व रमादत्त शुक्ल भी जुड़े। यह पत्रिका धार्मिक थी और इसमें तंत्र-मंत्र से जुड़े आलेख प्रकाशित किये जाते थे। यह आज भी प्रकाशित होती है। साहित्यभवन से त्रैमासिक पत्रिका 'साहित्य परिचय' प्रकाशित हुई। यह मुख्य रूप से आलोचना की पत्रिका थी। 1943 में राष्ट्रीय संस्कृत पिद्यापीठ से त्रैमासिक पत्रिका 'गंगानाथ झा रिसर्च जर्नल' प्रकाशित किया गया। 1945 में भारी-भरकम सम्पादक मण्डल वाली साहित्यिक मासिक पत्रिका 'नया साहित्य' निकली। इसके सम्पादक मण्डल में यशपाल, रामविलास शर्मा, शिवदान सिंह चौहान, प्रकाशचन्द्र गुप्त, रमाप्रसाद घिल्डियाल 'पहाड़ी'शामिल थे। प्रगतिशील लेखकों व साहित्य की यह पत्रिका लेखकों के बीच लोकप्रिय थी।

सन् 1946 में उर्दू-हिंदी में सामग्री प्रस्तुत करने वाली पत्रिका 'नया हिन्द' निकली। इसके सम्पादक मण्डल में डॉ. ताराचंद, भगवानदीन, मुजफ्फरहसन, विश्वम्भरनाथ तथा सुन्दरलाल शामिल थे। यह पत्रिका हिन्दुस्तानी कल्चरल सोसायटी से प्रकासित होती थी। इसमें अपने समय के सभी लेखकों की रचनाएं छपा करती थी। 15 अगस्त 1847 को लीडर प्रेस से 'संगम' मासिक पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ किया गया। इसके सम्पादक इलाचन्द्र जोशी थे। यह अपने समय की महत्वपूर्ण पत्रिका थी। इसके सम्पादन से डॉ. धर्मवीर भारती भी जुड़े थे, जो बाद में 'धर्मयुग' के सम्पादक बने।

सन् 1951 में भैरव प्रसाद गुप्त के संपादन में 'नयी कहानी', का प्रकाशन प्रारम्भ किया। इसी के आस-पास 'कहानी' का संपादन श्रीपत राय ने व 'नयी कविता' का सम्पादन जगदीश गुप्त व रामस्वरूप चतुर्वेदी ने, 'क ख ग' का संपादन लक्ष्मीकांत वर्मा ने, 'संकेत' का संपादन उपेन्द्रनाथ अश्क ने, 'कादम्बनी' का संपादन बालकृष्णराव ने तथा 'रूपाभ' का प्रकाशन-संपादन सुमित्रानंदन पंत ने प्रारम्भ किया। इन्हीं दिनों नाटक की पत्रिका 'सूत्रधार' निकली तो सही, लेकिन एक ही अंक के बाद थम सी गयी। इमरजेंसी के समय यानी 1976 में दूधनाथ सिंह ने 'पक्षधर' का संपादन प्रारम्भ किया, लेकिन इसका भी एक ही अंक निकल सका। इन दिनों यह पत्रिका वाराणसी से पुनः प्रकाशित हो रही है।

साहित्यिक पत्रकारिता में यह शहर अग्रणी भूमिका में रहा। यही वजह थी कि यहां से हिंदी की ढेर सारी साहित्यिक पत्रिकाएं निकलीं, जिन्होंने साहित्य के क्षेत्र में नित नए प्रतिमान गढ़े। सत्तर के दशक (पिछली सदी के) में, 'हाथ', 'विहान', 'बात की बात', 'आधार', 'विकल्प', 'जनपक्ष' आदि पत्रिकाएँ निकलीं, लेकिन इनका जीवन अल्प ही रहा। 1969 में मार्कण्डेय के सम्पादन में 'कथा' निकली। यह पत्रिका भी अनियतकालीन रूप में अभी भी प्रकाशित हो रही है। 'अवकाश', 'समारंभ', 'समकालीन कविता', 'आगामी कल', 'नई कहानी', 'लेखन', 'साहित्यनामा', 'कथ्यरूप', 'नीरद', 'वर्तमान साहित्य', 'उन्नयन', 'समकालीन

Untitled-1 127 7/23/2010, 1:32 PM

जनमत', 'इतिहास बोध' 'अभिप्राय', 'सेवा', 'कथान्तर' जैसी महत्वपूर्ण साहित्यिक पत्रिकाएँ इसी शहर से निकलीं। इनमें से बहुतेरी अभी भी पूरे धमक के साथ प्रकाशित हो रही हैं। इन दिनों महात्मागांधी अन्तर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय की पत्रिका 'बहुवचन' (सं. राजेन्द्र कुमार) का सम्पादन इलाहाबाद से हो रहा है। इसी तरह मार्कण्डेय के सम्पादन में कथा, रामजी राय के सम्पादन में 'समकालीन जनमत', लाल बहादुर वर्मा के सम्पादन में 'इतिहास बोध, सतीश जमाली के सम्पादन में 'नई कहानियां', श्री प्रकाश मिश्र के सम्पादन में 'उन्नयन', विद्याधर शुक्ल के सम्पादन में 'लेखन' तथा धनंजय चोपड़ा के सम्पादन में 'बरगद' पत्रिका का प्रकाशन हो रहा है।

बीसवीं सदीके समाप्त होते होते इस शहर से 'अमृत प्रभात', 'आज', 'दैनिक जागरण', 'अमर उजाला', 'युनाइटेड भारत' जैसे अखबारों का प्रकाशन प्रारम्भ हो गया था और 'हिन्दुस्तान', 'राष्ट्रीय सहारा', 'स्वतंत्र भारत', नवभारत टाइम्स', 'स्वतंत्र चेतना' आदि अखबारों के ब्यूरो स्थापित हो गये थी। इक्कीसवीं सदी के पहले दशक में जहां डेली-न्यूज एक्टिविस्ट जैसे नये अखबारों का यहां विधिवत ब्यूरो स्थापित हुआ, वहीं 'नई दुनिया', 'पंजाब केसरी', 'दैनिक भास्कर' आदि अखबारों के भी कार्यालय खुल गये। 'काम्पैक्ट पत्रकारिता' में भी इस शहर ने दखल दे दी है। यहां से दैनिक जागरण का काम्पैक्ट अखबार 'आई नेक्स्ट' के नाम से तथा अमर उजाला का 'काम्पैक्ट' के ही नाम से प्रकाशित हो रहा है। कई अन्य अखबार भी अपना अस्तित्व बनाने के जद्दोजहद में लगे हुए हैं।

उर्दू पत्र–पत्रिकाएँ

इलाहाबाद की उर्दू पत्रिकारिता का इतिहास भी अत्यन्त समृद्ध रहा है। आजादी की आवाज बुलंद करने वाली उर्दू के कई पत्र-पत्रिकाओं ने ऐसे मानक गढ़ दिये हैं कि उन्हें प्राप्त कर पाना ही असम्भव सा लगता है। उर्दू पत्रकारिता की इलाहाबादी यात्रा का प्रारम्भ एक जनवरी 1877 से साप्ताहिक समाचार पत्र 'कैसल-उल अखबार ए-हिन्द' से हुआ। प्रत्येक रविवार को निकलने वाला यह अखबार एक नवम्बर 1877 से दैनिक हो गया। अपनी खबरों और उनमें निहित कटाक्षों के कारण यह अखबार जब तक प्रकशित हुआ अंग्रेजों की आंख की किरकिरी बना रहा। एक मार्च 1877 को एक अन्य साप्ताहिक 'दबीर-ए-हिन्द' भी इलाहाबाद से निकला। बारह पृष्ठों के इस साप्ताहिक के सम्पादक- प्रकाशक मिर्जा मोहम्मद हुसैन थे। 6 जनवरी 1878 से 'अहसन-उल-अखबार' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके प्रकाशन हाजी मोहम्मद कबीर उल हक थे। यह अखबार अपने समय के अन्य अखबारों की तुलना में बेहतरीन प्रस्तुति के साथ छपता था। वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट लग जाने के कारण यह बहुत अधिक आक्रामक तेवर वाला अखबार न होकर मध्यमार्गी अखबार ही बना रहा। अंग्रेजी हुकूमत के डर से यह अखबार का आधार भाग अंग्रेजी में ही छापा करता था। सन् 1885 में 'रिफा-ए-आम' नामक पत्र निकला। इसके सम्पादक शेख निहाल अहमद अलवी हमीदी तथा प्रकाशक मौलवी फरदउद्दीन अहमद थे। कड़ा से प्रकाशित होने के कारण बाद में इसका नाम 'हामी हिन्द कड़ा'

Untitled-1 128 7/23/2010, 1:32 PM

कर दिया गया। यह पत्र सप्ताह में एक बार प्रकाशित होता था।

सन् 1896 में बारह पृष्ठों का साप्ताहिक 'अल रशीद' (सं0 मुंशी हामिद) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह साप्ताहिक पत्र प्रत्येक सोमवार को छप कर आ जाता था। सर तेज बहादुर सप्रू के सम्पादन में कश्मीरी समाज का प्रतिनिधि पत्र 'कश्मीर दर्पण' जनवरी 1903 में निकलना शुरू हुआ। इसमें उर्दू के साथ-साथ हिंदी में भी सामग्री छपती थी। 56 पृष्ठों का यह साप्ताहिक इण्डियन प्रेस से छपा करता था। जनवरी 1904 में कड़ा से उर्दू की पहली मासिक पत्रिका 'हमदर्द' प्रकाशित हुई। इसके सम्पादक मौलवी जमाल अहमद थे। यह पत्रिका देश की राजनीति पर तो नजर रखती ही थी; मुस्लिम समाज के भी जरूरी मुद्दों को उठाती थी।

इलाहाबाद ही नहीं देश की पत्रकारिता में अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत करने वाला अखबार 'स्वराज' 1907 में छपना शुरू हुआ। जिसकी चर्चा हम शुरू में कर चुके हैं। महामना मालवीय जी, राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन सरीखे कई राष्ट्रीय नेताओं ने इसके सम्पादकों का न केवल मुकदमा लड़ा, बल्कि उनके परिवार को आर्थिक सहायता भी मुहैय्या करायी। 1910 में इसके चार अंक ही निकल पाये थे कि अंग्रेजों का कहर कुछ इस तरह बरपा कि यह फिर प्रकाशित नहीं हो सका, तब इसके संपादक पं अमीरचंद बंबवाल थे। गिरफ्तारी से मुक्त होने के बाद बंबवाल ने 1928 में पेशावर से उर्दू साप्ताहिक 'फ्रंटियर एडवोकेट' का प्रकाशन किया। इकबाल स्टीम प्रेस में छपने वाला यह अखबार आजादी के बाद तक छपता रहा।

एक जनवरी 1910 को मासिक पत्रिका 'अदीब' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक मुंशी नौबत राय 'नजर' बनाये गये। इण्डियन प्रेस से छपनेवाली इस पत्रिका के दूसरे सम्पादक मुंशी प्यारेलाल शाकिर बने। यह पत्रिका अपने आलेखों व उनकी प्रस्तुति के तरीकों की वजचह से हमेशा चर्चा में रहती थी। 1913 में इसके सम्पादक मीर खुसरू अजीमाबादी हुए। चालीस पृष्ठों की इस पत्रिका का मूल्य चार रुपये वार्षिक था। सन् 1916 में उर्दू दैनिक 'नई रोशनी' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक वाहिद यार खां थे। शिक्षा पर अधिक जोर देने वाला यह पत्र अपनी स्वतंत्र विचारधारा के कारण लोकप्रिय था। 1921 में एक नया मासिक 'आइना' प्रकाशित होना शुरू हुआ। इसके सम्पादक डॉ. अताउल्ला थे। सितम्बर 1925 में अंजुमन दारुल अदब ने मासिक पत्रिका 'अकबर' का प्रकाशन प्रारम्भ किया। चौंसठ पृष्ठों की इस पत्रिका का मूल्य साढ़े चार रुपये वार्षिक था। सन् 1930 में 16 पृष्ठों की पत्रिका पत्रिका 'जासूस' छपनी शुरू हुई। इसके संपादक युसूफ हाशमी थे।इकबाल की स्मृति में 1938 में दैनिक अखबार 'अल अज़ीज़' निकाला गया। इसके सम्पादक कमरुद्दीन बदरुद्दीन थे। यह जल्दी ही बंद भी हो गया।

सन् 1941 में मासिक पत्रिका 'नई जिन्दगी' प्रकाशित हुई। इसके प्रकाशक डॉ. सैय्यद महमूद और सम्पादक सैय्यद अनीस उर रहमान थे। अस्सी पृष्ठों की इस पत्रिका में सांस्कृतिक, व राजनीतिव आलेख प्रकाशित हुआ करते थे। 1944 में 'कारवां' नामक मासिक पत्रिका निकली। इसके प्रकाशक सैयद मुमताज हुसैन तथा सम्पादक डॉ0 एजाज हुसैन थे। इस पत्रिका का प्रमुख उद्देश्य उर्दू भाषा व साहित्य का प्रचार-प्रसार करना था। इस पत्रिका में अपने समय के सभी बड़े-व चर्चित लेखक मसलन जोश मलीहाबादी, अली सरदार जाफरी, फिराक

Untitled-1 129 7/23/2010, 1:32 PM

गोरखपुरी, ख्वाजा अहमद अब्बास, राही मासूम रजा, डॉ0 सईद हसन, आनंद नारायण मुल्ला, कृष्णचन्दर आदि लिखा करते थे। डॉ0 सैयद एजाज हुसैन के सम्पादकत्व में साहित्यिक पत्रिका 'शुआ-ए-उर्दू' का प्रकाशन 1947 में हुआ। इस मासिक पत्रिका ने भी उर्दू अदब में अपना अलग स्थान बनाया। कई प्रमुख उर्दू साहित्यकार इस पत्रिका से जुड़े हुए थे। सन् 1947 में उर्दू दैनिक 'नया अखबार' निकला, लेकिन इसकी खबरों की विश्वसनीयता पर प्रश्नचिन्ह लगने के कारण इसे प्रतिबंधित कर दिया गया था। कुछ दिनों के बाद इस अखबार को 'हमारा अखबार' नाम से प्रारम्भ किया गया, लेकिन अधिक दिनों तक यह नहीं चल सका और 1950 में बंद हो गया।

इन दिनों इलाहाबाद से एक मात्र उर्दू का अखबार 'सियासत जदीद' ही छप रहा है। अन्य जो अखबार यहां पढ़ने को मिल जाते हैं, उनमें राष्ट्रीय सहारा उर्दू, सफीर-ए-नव, आवाज-ए-मुल्क, अखबार-ए-कौम तथा सहाफत शामिल हैं।

उर्दू के साहित्यिक पत्रों में 'शब-खून' (शमसुर्रहमान फ़ारुकी), 'नया सफ़र' तथा 'जोशबानी' (अली अहमद फ़ातमी) उल्लेखनीय है।

अंग्रेजी पत्र–पत्रिकाएँ

इलाहाबाद में पत्रकारिता का प्रारम्भ ही अंग्रेजी के अखबार के प्रकाशन के साथ हुआ। यह अखबार था 'पायनियर'। वैसे तो यह सरकार समर्थित समाचार पत्र था, लेकिन इसमें छपे समाचार पत्रों को लगभग सभी समाचार पत्र अपने यहाँ छापते थे। 1865 में प्रारम्भ हुए इस अखबार की पाठक संख्या भले ही सीमित थी, लेकिन सरकार के साथ-साथ अंग्रेजी शासन के खिलाफ जंग छेड़ने वाले तथा उस समय के सभी अखबार इसे गंभीरता से लेते थे। सन् 1890 में यहां से 'इण्डियन यूनियन' का प्रकाशन हुआ। सम्पादक-प्रकाशक पं0 अयोध्यानाथ थे। 1892 में इनका निधन होने के साथ ही यह अखबार बंद हो गया। जुलाई 1900 में सच्चिदानंद सिन्हा के सम्पादकत्व में--'हिन्दस्तान रिव्यू' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। यह मासिक पत्रिका थी। हिन्दुस्तान रिव्यू' कायस्थ पाठशाला से निकलने वाली पत्रिका 'समाचार' का ही बदला हुआ रूप थी। 'समाचार' पाठशाला के प्रधानाचार्य रामानंद चटर्जी के सम्पादन में निकलने वाली शैक्षिक पत्रिका थी। श्री चटर्जी की व्यस्तता के कारण सच्चिदानंद सिन्हा को इसका सम्पादन करने के लिए आमंत्रित किया । श्री सिन्हा ने इसको व्यापक रूप दिया। एक अंक प्रकाशित करने के बाद सिन्हा के प्रस्ताव पर इसका नाम समाचार से हिन्दुस्तान रिव्यू कर दिया गया। बाद में पाठशाला ने एक हजार रुपये में यह पत्रिका सच्चिदानंद सिन्हा को बेच दिया। वे 18 वर्षों तक इसका सम्पादन करते रहे। उसके बाद के.सी. महेन्द्र इसके सम्पादक हुए। 1921 में यह पत्रिका कोलकाता से छपने लगी। 1926 में सच्चिदानंद सिन्हा पुनः इसके संपादक बने और इसे पटना से प्रकाशित करने लगे। यह पत्रिका 1950 में बंद हो गयी।

सन् 1903 में सच्चिदानंद सिन्हा के सहयोग से अर्द्ध साप्ताहिक 'इण्डियन पीपुल' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक नगेन्द्र नाथ थे। नगेन्द्रनाथ पहले कराची से प्रकाशित

Untitled-1 130 7/23/2010, 1:32 PM

'फोनिक्स' पत्रिका के सम्पादक थे। वहां किसी समाचार प्रकाशन के सम्बन्ध में उन्हें जेल की सजा हुई थी। 1911 तक वे 'इण्डियन पीपुल' का संपादन करते रहे। अपने सम्पादकत्व में उन्होंने आजादी की लड़ाई में शाब्दिक जंग का एलान करे रखा । यह अखबार सप्ताह में दो बार प्रकाशित होता था। इसने पाठकों से संवाद स्थापित करने की परम्परा डाली। साल के अंत में हर क्षेत्र की उपलब्धियों, घटनाओं सफलताओं-असफलताओं की समीक्षा की जाती थी। प्रेस की स्वतंत्रता के पक्ष में भी इस अखबार ने आवाज बुलंद की। 1911 में यह अखबार 'लीडर' में समाहित हो गया। बहुत दिनों तक 'लीडर' के प्रथम पृष्ठ के शीर्ष पर यह लिखा जाता रहा 'इण्डियन पीपुल समाहित'। जनवरी 1906 में मासिक पत्रिका 'स्टूडेंट वर्ल्ड' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इण्डियन प्रेस से निकलने वाली इस पत्रिका में विद्यार्थियों के समग्र विकास से जुड़ी पठनीय सामग्री उपलब्ध करायी जाती थी। बत्तीस पृष्ठों की इस पत्रिका का मूल्य तीन रुपये वार्षिक था।

इलाहाबाद को देश का अंग्रेजी पत्रकारिता में अलग स्थान दिलाने का काम मासिक पत्रिका 'माडर्न रिव्यू' ने किया। सन् 1907 में रामानंद चटर्जी के संपादन-प्रकाशन में निकली इस पत्रिका के सहयोगियों इमें चिंतामणि घोष, भगिनी निवेदिता और मेजर वामनदास बोस थे। इण्डियन प्रेस से प्रकाशित होने वाली इस पत्रिका को 1908 में सरकार ने नोटिस देकर बंद करने को कहा तब रामानं चटर्जी इसका प्रकाशन कोलकाता से करने लगे। इस पत्रिका में रवीन्द्रनाथ टैगोर, लाला लाजपतराय, एस. निहाल सिंह, ई.ई. स्पीट, सी.एफ. एण्ड्रूज, युदुनाथ सरकार, सिस्टर निवेदिता, सुभाषचन्द्र बोस, जे.आर. लॉवेल की रचनायें छपा करती थी। रामानंद चटर्जी के पश्चात् केदारनाथ चटर्जी 'माडर्न रिव्यू' के सम्पादक बने 1965 में अशोक चटर्जी। अन्ततः यह पत्रिका बंद हो गई।

इलाहाबद में राष्ट्रीय दैनिक की कमी को पूरा करने के उद्देश्य से 24 अक्टूबर 1909 को पं. मदन मोहन मालवीय के सम्पादकत्व में 'लीडर' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके सुचारू संचालन के लिए पं. मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति बनायी गयी। इसमें नेहरू के अतिरिक्त मदन मोहन मालवीय, तेज बहादुर सप्रू, सच्चिदानंद सिन्हा आदि व्यक्ति शामिल थे। पहले से प्रकाशित हो रहे 'इण्डियन पीपुल' का इसमें विलय कर लिया गया। 'इण्डियन पीपुल' के संपादक नगेन्द्रनाथ और सी.वाई. चिंतामणि को 'लीडर' का सरकारी संपादक बनाया गया। बाद में नगेन्द्र नाथ 'ट्रिब्यून' के संपादक होकर लाहौर चले गये तो सी0वाई0 चिंतामणि 'लीडर' के संपादक हो गये। इनके कार्यकाल में लीडर ने तमाम संघर्षों को झेलते हुए भी प्रगति की। आठ हजार प्रसार संख्या और आमदनी 25 हजार रुपये मासिक करने में देर न लगी। 'लीडर'ने स्वतंत्रता आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। बाद में इस दैनिक की साख गिरने से प्रसार संख्या पर भी असर पड़ा और आमदनी पर भी। बाद में घनश्याम दास बिड़ला ने इसे खरीद लिया, लेकिन वे इसका अवसान न टाल सके। 'लीडर' बंद हो गया।

सन् 1913 के आस-पास 'इण्डियन पोलट्री' नामक अंग्रेजी मासिक के प्रकाशित होने का उल्लेख भी मिलता है। इसका जिक्र उस समय के कई अन्य अंग्रेजी के अखबारों में मिलता

Untitled-1 131 7/23/2010, 1:32 PM

है। इस पत्रिका के सम्पादक जे. एफ. टैरील थे। 1914 में 'होमवर्क' नामक मासिक भी इलाहाबाद से निकला। 40 पृष्ठों और एक रुपये वार्षिक शुल्क वाले इस पत्र के सम्पादक हरिराम झा थे। 1917 में अंग्रेजी की साप्ताहिक पत्रिका 'इण्डियाज़ पिक्टोरियल मैगज़ीन' प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ। पायनियर प्रेस से प्रकाशित यह पत्रिका 'आई.पी.एम.' के नाम से प्रसिद्ध है। यह पत्रिका इलाहाबाद से छपती थी, लेकिन डेटलाइन में दिल्ली छपता। यह पत्रिका पहले चित्रों की पत्रिका थी, लेकिन बाद में इसमें साहित्यिक सामग्री भी छपने लगी। 1925 में 'डेली मेल' नामक दैनिक प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ। कुछ समय तक इसका सम्पादन सी.वाई. चिंतामणि ने किया।

पांच फरवरी 1917 से 'इंडिपेंडेंट' नामक दैनिक पत्र प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ। पं. मोतीलाल नेहरू के सम्दकत्व में निकले इस अखबार को लीडर की उन दिनों की तथाकथित समझौतावादी नीतियों के विरोध में प्रारम्भ किया गया था। इसने लीडर की लोकप्रियता और प्रसार संख्या को आघात भी पहुंचाया। यह उग्र नीति पर चलने वाला अखबार था 'और इसने खुलकर असहयोग आंदोलन का समर्थन किया। नतीजा यह हुआ कि इसकी जमानत जब्त हो गई और आर्थिक कठिनाइयों के कारण यह पत्र 20 दिसम्बर 1921 को बंद हो गया। बाद के दिनों में यह कभी-कभी लुके-छिपे ढंग से छपता रहा। कहा जाता है कि उन दिनों यह अखबार दुगने-तिगुने दाम में और कभी कभी एक-एक रुपये में बिक जाया करता था।

सन् 1928 में अंग्रेजी साप्ताहिक 'स्टार' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक हसन मुहीउद्दीन अब्बासी थे। इन्होंने अपनी सम्पादकीय नीतियों पर अमल करके इसे लोकप्रिय पत्रिका बना दिया। इसका प्रसार संख्या दस गुना तक बढ़ गई और यह लाभ भी कमाने लगा। 'स्टार' के संचालक ने अप्रैल 1938 से 'स्टार' को दैनिक अखबार बनाने की घोषणा की, लेकिन इससे पहले कि यह दैनिक हो पाता, मार्च 1938 में 'सोल फोर्स' शीर्षक से छपी सम्पादकीय के कारण सम्पादक को गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया तथा जमानत जब्त कर ली गई। 'स्टार' बंद हो गया।

बाद के दिनों में यहाँ से 'नार्दन इण्डिया पत्रिका' छपता रहा और एक समय तक उसका एकछत्र राज्य रहा। हालाकि यहां पायनियर, नेशनल हेरल्ड, टाइम्स आफ इण्डिया, हिन्दुस्तान टाइम्स आदि अंग्रेजी अखबारों के ब्यूरो स्थापित हो गये। कमोवेश यही स्थिति अभी तक बनी हुई है। एन आई पी के अतिरिक्त कोई भी अखबार यहां से नहीं छपता। सभी के इलाहाबाद संस्करण अन्य स्थानों यथा वाराणसी, लखनऊ या नई दिल्ली से छपकर आते हैं। 'नेशनल हेरल्ड' छपना बंद हो चुका है।

स्त्रियों के लिए पत्र-पत्रिकाएँ

यह एक अलग बात है कि हिंदी, उर्दू और अंग्रेजी की पत्रकारिता में कई स्त्री पत्रकारों व लेखिकाओं ने समय-समय पर अपना योगदान दिया, लेकिन इलाहाबाद में स्त्रियों को केन्द्र में

Untitled-1 132 7/23/2010, 1:32 PM

रखकर कई पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया गया। इन पत्र-पत्रिकाओं का उद्देश्य जहां एक ओर स्त्रियों के सर्वांगीण विकास में सहयोग करना था, वहीं उन्हें शिक्षित व जागरूक बनाना था ताकि वे आजादी के संघर्ष व सामाजिक विकास में अपनी भागीदारी सुनिश्चित कर सकें।

स्त्रियों के लिए पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन का क्रम जून 1909 में 'स्त्री दर्पण' नामक मासिक पत्रिका के साथ प्रारम्भ हुआ। इलाहाबाद ला जर्नल प्रेस से छपने वाली इस पत्रिका की सम्पादक रामेश्वरी नेहरू थीं। चौंसठ पृष्ठों की इस पत्रिका में ज्ञानवर्धक रचनाएँ छपती थीं। सन् 1924 में यह प्रताप प्रेस कानपुर से छपने लगी और सन् 1929 में बंद हो गई। 1909 में ही यशोदादेवी के सम्पादकत्व में 'स्त्री धर्म्म शिक्षक' नाम की मासिक पत्रिका निकली। इस पत्रिका में स्त्री शिक्षा, धर्म और सामाजिक विषयों पर आलेख, समाचार न सूचनाएँ छपती थी। 1911 में इलाहाबाद स्थित स्त्री औषधालय से मासिक पत्रिका 'स्त्री चिकित्सक' निकली। इसका सम्पादन भी यशोदा देवी ने किया। वैद्यक के अतिरिक्त इसमें धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास, पुराण, शिल्प शिक्षा, भूगोल आदि विविध विषयों पर सामग्री प्रकाशित होती थी। यह पत्रिका कई वर्षों तक प्रकाशित होती रही। यशोदा देवी के ही सम्पादकत्व में 1913 में सचित्र मासिक पत्रिका 'कन्या सर्वस्व' निकली। यह शिक्षा, उपदेश और मनोरंजन की पत्रिका थी। ओंकारनाथ बाजपेयी ने 1913 में ही 'कन्या मनोरंजन' नामक मासिक पत्रिका निकाली।

नवम्बर 1922 में 'चांद' पत्रिका का प्रकाशन स्त्रियों के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखकर किया गया। अस्सी पृष्ठों की इस पत्रिका का प्रकाशन रामरखसिंह सहगल ने किया था। यह सचित्र मासिक पत्रिका थी। अपनी पठनीयता के कारण इसकी प्रसार संख्या 15000 तक पहुंच गई थी। लोकप्रियता को देख कर ही समग्र सामाजिक सरोकार की पत्रिका कर दिया। इसने कई चर्चित विशेषांक छापे। 1923 में प्रयाग महिला विद्यापीठ की मुखपत्रिका 'महिला' छपी। इसकी सम्पादक सुशीला देवी 'विदुषी' थीं। इसमें मुख्य रूप से विद्यापीठ की गतिविधियों को प्रकाशित किया जाता था। अप्रैल 1924 से देश भर में प्रसिद्धि प्राप्त करने वाली मासिक (बाद में पाक्षिक) पत्रिका 'मनोरमा' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। सन् 2003 तक निकलने वाली इस पत्रिका का प्रकाशन पहले वेलवेडियर प्रेस से होता था और इसके आद्य सम्पादक ज्योति प्रसाद निर्मल थे। सन् 1952 में क्षितीन्द्र मोहन मिश्र ने इसे वेलवेडियर प्रेस से ले लिया और फिर यह मित्र प्रकाशन से छपने लगी। महिलाओं के लिए पाक कला, कढ़ाई-बुनाई, गृह-सज्जा, महिला स्वास्थ्य- सौन्दर्य, फैशन आदि विशेषांकों ने इसे देश भर में लोकप्रिय बना दिखा था। इसमें रुचिकर साहित्य व अन्य आलेख भी छपते थे। वरिष्ठ कथाकार अमरकांत भी लम्बे समय तक इसके सम्पादन से जुड़े रहे। 1980 में निकला इसका महिला लेखिका विशेषांक बहुत चर्चित रहा था।

सन् 1926 में सुदर्शन प्रेस से मासिक पत्रिका 'गृह लक्ष्मी' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसके संपादक सुदर्शन आचार्य और गोपाल देवी थे। इस पत्रिका में प्रकाशित होने वाली सामग्री महिलाओं के लिए प्रेरक व ज्ञानवर्धक होती थी। इसमें कविताएँ व चित्र भी छापे जाते थे। अपने समय की कई कवयित्रियों की रचनाएँ इसमें प्रकाशित हुई थीं। 1930 में इलाहाबाद

Untitled-1 133 7/23/2010, 1:32 PM

ला जर्नल प्रेस से सचित्र मासिक पत्रिका 'सहेली' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसकी संपादक रूपकुमारी वांचू और दया दर थीं। प्रधान संपादक के रूप में राजेश्वरी देवी का नाम छपता था। बत्तीस पृष्टों की इस पत्रिका में महिलाओं के विकास को ध्यान में रखकर लेख छापे जाते थे। प्रकाशन के दूसरे वर्ष इसके सम्पादक विजय वर्मा बनाये गये। इसमें रचना सहयोग देने वालों में विजय लक्ष्मी पण्डित, नवजादिक लाल श्रीवास्तव, उमा नेहरू, सरोजनी नायडू, महादेवी वर्मा आदि शामिल थे। 1937 में 'सहेली' का प्रकाशन बंद हो गया। सन् 1930 में इलाहाबाद से ही 'कन्या वर्चस्व' पत्रिका निकली। इसका सम्पादन यशोदा देवी ने किया।

सन् 1934 में ज्योतिर्मयी ठाकुर के सम्पादकत्व में 'कमलिनी' मासिक पत्रिका निकली। स्त्री समाज को शिक्षित व जागरूक करने के उद्देश्य से इस पत्रिका का प्रकाशन किया गया इसमें कई लोकप्रिय स्तंभ प्रकाशित किये जाते थे। मसलन स्त्रियाँ क्या जानना चाहती हैं? स्त्री समाज में कहां क्या हो रहा है? तथा क्या तुम्हें मालूम है आदि। सन् 1935 में सचित्र मासिक पत्रिका 'गुड़िया' (सं0 अक्षय कुमारी) का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इसका वार्षिक शुल्क दो रुपये हुआ करता था।

इलाहाबाद से प्रकाशित होने वाली पत्रिकाओं में स्त्रियों के लिए निकली पत्रिका 'दीदी' का प्रमुख स्थान रहा है। दिसम्बर 1940 से प्रकाशित होने वाली इस पत्रिका के प्रारम्भिक संपादक ठाकुर श्रीनाथ सिंह थे। बाद में ये प्रबन्ध संपादक हो गये तथा सम्पादन का दायित्व यशोवती तिवारी को सौंप दिया गया। इसके प्रवेशांक में ही इसके उद्देश्य को निर्धारित करते हुए संपादक ने लिखा था कि हम भारतीय स्त्रियों को उनकी वास्तविक स्थिति से परिचित कराना चाहते हैं ताकि वे अपना विकास कर राष्ट्र के उत्थान में अपना योगदान दे सकें। यही वजह थी कि चित्रों से सजी-संवरी इस पत्रिका में स्त्रियों से जुड़े समाचार तथा ज्ञानवर्धक व प्रेरक स्तंभ नियमित रूप से प्रकाशित किये जाते थे। 'दीदी' के कई विशेषांक संग्रहणीय थे। 1956 में अनायास ही 'दीदी' का प्रकाशन बंद हो गया, जबकि उस समय इसकी लोकप्रियता चरम पर थी। सन् 1943 में 'सजनी' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया गया। इसके सम्पादक नृसिंहराम शुक्ल थे। इसमें साहित्यिक रचनाएं ही प्रकाशित हुआ करती थीं।

बच्चों के लिए पत्र-पत्रिकाएँ

बीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही इलाहाबाद के पत्रकारों, लेखकों, सम्पादकों को इस बात का आभास हो गया था कि यदि भारत को आजाद कराना है और उसे प्रगति की राह पर ले जाना है तो इस देश के नौनिहालों पर ध्यान देना होगा, विशेषकर उनके मानसिक विकास पर। यही वजह है कि बच्चों के लिए पत्र-पत्रिकाओं का क्रम सदी के प्रारम्भ के साथ ही हो गया। सन् 1902 में मासिक पत्रिका 'आर्य बाल हितैषी' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ यह पत्रिका बच्चों के लिए पठनीय सामग्री तो उपलब्ध कराती ही थी, साथ ही अभिभावकों को भी विभिन्न सुझाव देती थी, ताकि वे ठीक ढंग से अपने बच्चों की परवरिश कर सकें। बच्चों के मनोरंजन व

Untitled-1 134 7/23/2010, 1:32 PM

व्यक्तित्व विकास को ध्यान में रखकर 'विद्यार्थी' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन 1914 में प्रारम्भ हुआ। इसके सम्पादक रामजीलाल शर्मा थे। यह पत्रिका 1914 से 1946 तक छपी और फिर बंद हो गई। 1952 में इसको पुनः शुरू किया गया, लेकिन जल्दी ही फिर बंद हो गई।

मार्च 1915 में बच्चों के लिए मासिक पत्र 'शिशु' का प्रकाशन किया गया। यह 50 पृष्ठों का होता था और इसमें बच्चों के लिए हर तरह के उपयोगी आलेख प्रकाशित किये जाते थे। इसके सम्पादक सुदर्शन आचार्य और सहकारी सम्पादक ठाकुर श्रीनाथ सिंह थे। 'गृहलक्ष्मी' पत्रिका के कार्यालय से ही प्रकाशित होने वाला यह पत्र 1937 में बंद हो गया। जनवरी 1917 से 'बाल सखा' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। बच्चों में पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ाने व उन्हें नैतिक शिक्षा देने के उद्देश्य से निकली इस पत्रिका के पहले सम्पादक बदरीनाथ भट्ट बी.ए. थे। बाद में इसके सम्पादन का दायित्व देवीदत्त शुक्ल, पं0 कामता प्रसाद गुरु, गिरिजादत्त शुक्ल गिरीश, ठाकुर श्रीनाथसिंह, सोहन लाल द्विवेदी, देवीदयाल चतुर्वेदी 'मस्त' तथा लल्ली प्रसाद पाण्डेय जैसे साहित्यसेवी विद्वानों ने भी सम्भाला। 'बाल सखा' ने अपने इक्यावन वर्षीय जीवन में कई महत्वपूर्ण विशेषांक प्रकाशित किये। यह पत्रिका देश की हिंदी पट्टी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण, चर्चित व सर्वाधिक बिकने वाली बच्चों की पत्रिका बन गई थी। दिसम्बर 1968 के अंक में यह कहकर पत्रिका बंद कर दी गई।

जनवरी 1927 को 'खिलौना' नाम से दो पत्रिकाएँ प्रकाशित की गईं। एक के सम्पादक रामजीलाल शर्मा थे और दूसरी के आनंदी प्रसाद श्रीवास्तव। वैसे रामजीलाल द्वारा सम्पादित 'खिलौना' ही आगे छपी, दूसरी खिलौना बंद हो गई। 'खिलौना' का प्रकाशन हिंदी प्रेस से होता था और इसमें बच्चों के मनोरंजन, शिक्षा व व्यक्तित्व विकास की आवश्यक सामग्री प्रकाशित की जाती थी। बाद में रघुनंदन प्रसाद शर्मा व रामेश्वर गुरु भी इसके सम्पादक बने। 1956 में यह ग्वालियर से छपने लगी और कुछ महीने छप कर बंद हो गई। सन् 1930 'चमचम' नामक मासिक पत्रिका निकली। गंगा प्रसाद उपाध्याय इसके सम्पादक थे। उपाध्याय जी ने ही 'विश्व प्रकाश' पत्रिका निकली। छोटे-छोटे वाक्यों व सरल भाषा के कारण यह पत्रिका बच्चों के करीब बनी रही। यह कला प्रेस से छपती थी। यह बात और है कि इसका जीवन बहुत ही कम रहा।

हिंदी के प्रसिद्ध लेखक राम नरेश त्रिपाठी के सम्पादकत्व में 1931 में 'वानर' मासिक पत्रिका निकली। इसमें बच्चों के लिए सचित्र सामग्री उपलब्ध रहती थी। डिमाई आकार की इस पत्रिका का मूल्य एक प्रति का चार आना और वार्षिक ढाई रुपये था। 1931 में ही इण्डियन प्रेस से 'बच्चों की दुनिया' नामक पत्रिका निकली। 1934 में राम किशोर अग्रवाल मनोज ने मासिक पत्रिका 'अक्षय भैया' का सम्पादन-प्रकाशन किया। 1938 में यह पत्रिका बंद भी हो गई। 1940 में इण्डियन प्रेस से 'शिशु भारती' पत्रिका का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस मासिक पत्रिका के कुछ ही अंक निकल पाये थे कि अचानक यह बंद हो गई।

बच्चों के लिए मासिक पत्रिका 'बाल बोध' का प्रकाशन देश आजाद होने के ठीक बाद

Untitled-1 135 7/23/2010, 1:32 PM

अक्टूबर 1947 में किया गया। इसके सम्पादक ठाकुर श्रीनाथ सिंह और संचालक प्रेमलता देवी थीं। पत्रिका में कहानियां, कविताएं, पहेलियां, महापुरुषों के जीव चरित्र, इतिहास-भूगोल पर आधारित रचनाएँ आदि प्रकाशित की जाती थीं। यह पत्रिका 1958 में बंद हो गई। सन् 1947 में ही मासिक पत्रिका 'शेर बच्चा' भी इलाहाबाद से निकली। इसके सम्पादक नृसिंहराम शुक्ल तथा शम्भूनाथ श्रीवास्तव थे। 1961 तक यह प्रकाशित होती रही। इसके बाद के दिनों में बच्चों की इक्का-दुक्का पत्रिकायें ही निकल सकीं। अस्सी के दशक में कुछ युवा रचनाकारों ने 'नन्हे-मुन्नों का अखबार' नाम से एक पहल की थी, जो कुछ वर्षों तक अपनी उपस्थिति दर्ज कराती रही।

Untitled-1 136 7/23/2010, 1:32 PM

पढ़ते-गुनते

पुस्तकें भी इंतज़ार करती हैं कि कोई कोलंबस-सा आये और उनके भीतर छिपी किसी नई दुनिया को खोज निकाले। लेकिन यह इंतज़ार सफल हो, ऐसा हर पुस्तक के नसीब में नहीं होता। फिर यह भी, कि इतनी पुस्तकें आज छप रही हैं कि हर एक के भीतर से गुज़रने का धैय भी कोई कहाँ से लाये? फिर भी, समय-समय पर पढ़ते-गुनते कुछ हाथ लग जाए तो उस अनुभव में सहभागी होने के भाव का बना रहना भी ग़नीमत है। 'बहुवचन' में पुस्तक-समीक्षा जैसा कुछ छाप पाने का कोई नियमित स्थान नहीं है। कुछ मित्र अपनी पढ़ी हुई पुस्तकों के बारे में अपनी सम्मतियाँ लेख के रूप में, जब-तब हमें भेजते रहते हैं। यह 'बहुवचन' के प्रति उनकी सदाशयता है। इस बार हम इस सदाशयता का सम्मान करते हुए, प्राप्त लेखों में से कुछ को यहाँ प्रकाशित कर रहे हैं।

Untitled-1 137 7/23/2010, 1:32 PM

जेल और जाल के बीच साँसत में फँसी स्त्री

सियाराम शर्मा

अल्पना मिश्र की कहानियाँ स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के बीच अलगाव, अपरिचय एवं परायेपन के फैले उजाड़ और बंजरपना का जायजा लेती कहाँनियाँ हैं। ये स्त्री मन के गहरे अँधेरे, मनोजगत की संरचनाओं और उसे बीमार बना देने वाली स्थितियों की पड़ताल की कहानियाँ भी हैं। सत्ता, व्यवस्था, समाज और परिवार के द्वारा अपने मूल्यों, मान्यताओं तथा विचारों के अनुरूप स्त्री के अनुकूलन तथा व्यक्तित्व हरण के विराट साँचों और सघन घेराबन्दियों का जटिल संरचनाओं को बहुत ही संवेदनशील ढंग से ये कहानियाँ पहचानती, समझती और परत-दर-परत खोलती हैं। इस समझ के अहसास के बीच से उभरता है स्त्री की देह, व्यक्तित्व, कामनाओं और इच्छाओं पर उसके अधिकार का सवाल। घर स्त्री के लिए एक जेल है, तो बाहर क्रूर पूँजी और बाजार का विशाल तंत्र उसकी स्वतंत्रता के शिकार के लिए हर ओर अदृश्य जाल फैलाये उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। जेल और जाल के बीच साँसत में फँसी भयभीत और चौकन्नी स्त्री के मनोभावों, अनुभूतियों, स्वप्नों, इच्छाओं और कामनाओं के रंग और रेशों से ये कहानियाँ बुनी गयी हैं। इनकी बुनावट अत्यन्त जटिल है। व्यक्ति, परिवार, समाज और सत्ता से जुड़े कई सवाल और यथार्थ के विविध पहलू इनमें एक दूसरे से जड़ों की तरह उलझे हैं। अल्पना मिश्र की कहानियाँ एक दूसरे से जुड़ती हैं और हमारे समकालीन समाज में स्त्री की स्थिति का नया भाष्य रचती हैं।

अल्पना मिश्र के प्रथम कहानी संग्रह 'भीतर का वक्त' की पहली कहानी 'उपस्थिति' एक स्त्री के व्यक्तित्व हरण, अलगाव और आत्महीनता की कहानी है। इसके लिए उपभोक्तावादी, वस्तुवादी व्यवस्था, पूँजीवादी अमानवीकरण की व्यापक प्रक्रिया और शासक वर्ग की विचारधारा जिम्मेदार है। कावेरी के आस-पास का सम्पूर्ण परिवेश, उसका पति, बच्चा और माँ सभी इसके शिकार हैं। उसके पति की संवेदनहीनता, संवादहीनता, पुरुष प्रभुत्व का बोध, समाज और व्यवस्था के अनुरूप माँ के द्वारा किया गया कावेरी का अनुकूलन, घर का वातावरण, सभी

Untitled-1 138 7/23/2010, 1:32 PM

उसकी संज्ञाा, अस्मिता और पहचान का अपहरण कर उसमें घोर असुरक्षा का भाव कर देते हैं। धीरे-धीरे वह मनोलोक की गहराईयों में खोकर मानसिक रूग्णता का शिकार हो जाती है।

पूरी कहानी की संरचना में एक खास तरह का बेगानापन, तटस्थता और निर्लिप्तता का भाव है। परायापन पूरी कहानी की संरचना में शामिल है। पति से अपेक्षित व्यवहार और प्यार से वंचित कावेरी धीरे-धीरे अपने पति से, घर से, उसकी हर चीज से अलगाव में जीने लगती है। कहानी में बच्चों की सृजनशीलता को निगलती हुई यथास्थितिवादी, अतिअनुशासन की जकड़बन्दी में फँसी शिक्षा व्यवस्था को अमानवीय बनाने की प्रक्रिया पर तीखा रोष है। यह शिक्षा के सैन्यीकरण प्रक्रिया है, अनुशासन में भी और यूनिफार्म में भी।

'उपस्थिति एक गहरे विडम्बनाबोध की कहानी है। यह कितनी बड़ी विडम्बना है कि जो कावेरी मक्खियों की भाषा, राग और रंग को पहचानती है, वह खुद इन सब गुणों से वंचित है। उस मक्खी में भी महसूस करने की क्षमता है पर कावेरी की संवेदना और महसूस करने की क्षमता सूख चुकी है। वह तो अपनी संज्ञा से भी बेखबर है। उसे जब उसके नाम से बुलाया जाता है, तब लगता है कि यह उसका नाम नहीं है। नाम, जो अस्तित्व को साकार करता है, वह भी उसकी शादी के बाद बदल कर 'सिमरन' कर दिया गया है। कावेरी इतनी संवेदनशील है कि घर में रोज आने वाली मक्खी का नाम भी नहीं छीनना चाहती पर विडम्बना यह है कि उसकी पहचान छीन ली गयी है। इस कहानी में विडम्बना का एक अन्य पहलू यह भी है कि कैशोर्य जीवन में जो लड़की डॉक्टर बनना चाहती थी, वह अंततः मरीज बन बैठी। इसके लिए दोषी कौन है? क्या सिर्फ उसका पति? माँ नहीं? पति भी तो किसी अमानवीकरण की विराट प्रक्रिया का शिकार है। माँ के विचारों में सत्ता की वह कौन सी विचारधारा पैठी है, जो अपनी ही लड़की को सपने देखने से वंचित करती है। अमानवीकरण का शिकार क्या उसका बच्चा नहीं है? मनुष्य की जगह वस्तु को महत्व देती यह कौन सी व्यवस्था है? इन तमाम प्रश्नों को संघटित करती यह एक जटिल और अंतर्गुम्फित कहानी है। इसमें सवाल एक दूसरे से गुँथे हुए हैं। इस अर्थ में यह एक सपाट स्त्रीवादी कहानी न होकर, जटिल अनुभव और यथार्थ की कहानी है।

'भय'समाज और सत्ता की विचारधारा के अनुरूप लड़कियों के व्यक्तित्व के अनुकूलन की कहानी है। प्रेम और स्वातंत्र्य विरोधी सत्ता लड़कियों के भीतर प्रारंभ से ही प्रेम और स्वतंत्रता का दुष्परिणाम दिखाकर उन्हें कोई कदम उठाने से रोकती है। परिवार इस सत्ता का ही अंग है। इस सत्ता के विचार की गिरफ्त में घर के बड़े-बूढ़े पुरुष ही नहीं, बड़ी-बुजुर्ग महिलाएँ भी होती हैं। सत्ता की सारी विचारधारा, सारे सांस्कृतिक रूप प्यार से, भय से, दुर्गति से यही सिद्ध करना चाहते हैं कि लड़की 'लड़की' की तरह रहे। अपने दायरे से बाहर न निकले। प्रेम और स्वतंत्रता की वास्तविक चाहत उसके व्यक्तित्व का अंग न बन पाये। बचपन और किशोरावस्था से ही लड़कियों की स्वप्नशीलता, चंचलता पर रूढ़ियों, पारंपरिक विश्वासों और नैतिकता की बंदिशें लगाकर उसके व्यक्तित्व की हदबन्दियाँ शुरु कर दी जाती हैं। उसकी स्वच्छन्दता, कल्पनाशीलता और प्रेम की असीम आकांक्षा को बेड़ियों में कैद कर दिया जाता है। इस तरह अपने ही परिवार, समाज और उसकी व्यवस्था के हाथों एक लड़की के सारे स्वप्न और आकांक्षाएँ मिट्टी

Untitled-1 139 7/23/2010, 1:32 PM

में मिल जाती हैं। धीरे-धीरे वह समाज का असहाय पुर्जा बनकर रह जाती है। अंततः वह इतना कमजोर हो जाती है कि अपने मन और शरीर पर भी नियंत्रण खो बैठती है। लड़कियों की ऐसी मानसिक 'कंडिशनिंग' उनमें प्रेम और सेक्स के प्रति गंभीर अरुचि और कई तरह की मानसिक विकृतियों को जन्म देती है।

कहानी के संदर्भ में नैतिकता का पाठ और सामाजिक वर्जनाओं का मूल्यांकन करती हुई लेखिका कहती हैं- ''तो निष्कर्ष यूँ निकला कि अच्छी लड़कियों! प्रेम से बचो! प्रेम एक छिछली भावुकता है, जो भविष्य में दुर्गति का कारण बनेगी। कोई सहारा नहीं देगा लड़कियों! इसलिए पढ़ो-लिखो और अपने भीतर के सहज आकर्षण को दबा डालो'' ('भय'-'भीतर का वक्त'/ अल्पना मिश्र/भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन/संस्करण-2006/पृ.-40)। हमारी शिक्षा, संस्कृति और परिवार अपने मानसिक अनुकूलन की अनवरत कोशिशों से एक लड़की को अंततः इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है। इस तरह चंचल , जीवन से भरी एक शोख लड़की अपने सारे आकर्षण से वंचित होकर ठंडे पत्थर में बदल जाती है। वह एक जीवित और सक्रिय इकाई की अपेक्षा परिवार और समाज के हाथों नाचने वाली बेजान कठपुतली बन जाती है। ऐसी स्थितियों में प्रेम स्त्री के लिए एक बोझ बन जाता है। एक असहनीय अहसास। इस प्रकार हमारा समाज मृणाल और उसकी बड़ी बहन की तरह एक बीमार स्त्री को जन्म देता है। क्या ऐसी स्त्री से स्वस्थ संतान की उम्मीद की जा सकती है?

'कथा के गैर जरूरी प्रदेश में' शीर्षक कहानी में दाम्पत्य जीवन के प्रेमहीन सेक्स से उत्पन्न स्त्री के मन के भीतर फैले रेगिस्तान को समझने का साहसी प्रयास है। साथ-साथ होने और सोने के बावजूद स्त्री अपने अहसासों में कितनी अकेली, अजनबी और अपरिचित होती है? उसके शरीर और सौन्दर्य के सारे श्रोत और मुहाने कैसे सूख जाते हैं? यही इस कहानी की विषयवस्तु है। स्त्री सिर्फ खोखल नहीं है, न अँधेरी सुरंग। वह जंगल का सम्पूर्ण सौन्दर्य है। वहाँ चिड़ियों का कलरव, पत्तों का संगीत, पहाड़ों के भीतर से रिसता हुआ सोता और झरने की कलकल ध्वनि भी है। क्या स्त्री के मन और शरीर के भीतर फैले इस अगम्य और अबूझ जंगल के सौन्दर्य को समझने का प्रयास किया जाता है? अगर नहीं, तो दाम्पत्य जीवन के दो सरल समानांतर रेखाओं की तरह बहुत दूर साथ-साथ चलते हुए भी स्त्री-पुरुष न तो एक दूसरे के मन को समझ पाते हैं, न शरीर के रहस्य को!

इस कहानी की मुख्य चरित्र अरूँधती के साथ कक्षा पाँच में ही उसके शिक्षक द्वारा अश्लील व्यवहार किया जाता है। अरूँधती के दिलोदिमाग पर उसके शिक्षक की अश्लील हरकतें और पति का प्रेमहीन सेक्स धुँध की तरह छाया रहता है। उसका पति प्राइवेट स्कूलों में होने वाले शिक्षकों के शोषण का शिकार है। इससे उपजी निराशा और असंतोष ने उसके व्यक्तित्व को कुंठित बना दिया है। उसका पति जगत, खुद पूँजीवादी तंत्र में फँसा एक कमजोर पुर्जा है। वह स्कूल में कोई प्रतिरोध नहीं कर पाता और किशोर वय की लड़कियों से अपनी कुंठाओं का बदला चुकाता है। एक बड़े तंत्र के समक्ष पुरुष की विफलता और पराजय स्त्रीत्व के मोर्चे पर उसकी विजय की कुंठा में तब्दील हो जाता है। यह बात इस संदर्भ में सही जान पड़ती है कि 'स्त्री पुरुष का अंतिम उपनिवेश है'। सारी दुनिया से थके-हारे पुरुष के लिए 'स्त्री'

Untitled-1 140 7/23/2010, 1:32 PM

रूपी अंतिम किला उसकी फतह के लिए हमेशा बचा रहता है।

गुरु जगत अपने आम जीवन और घरेलू जीवन में ही नहीं, पत्नी के साथ सेक्सुअल सम्बन्ध बनाने के क्रम में भी उसे समानधर्मा के रूप में न देखकर एक 'सेक्स ऑब्जेक्ट' के रूप में देखता है। परस्पर सहयोग की अपेक्षा वह उसके साथ आक्रामक व्यवहार अपनाता है। इन अत्यन्त निजी क्षणों में वह प्यार, स्नेह के साथ अपने सहयोगी की भावनाओं का ख्याल नहीं रखता। जब भावनाओं, अनूभूतियों, सपनों और संघर्षों में स्त्री-पुरुष के बीच साझा न हो तो 'सेक्सुअल लाइफ' में कैसे संभव है? क्या मन और हृदय देह से अलग हैं? क्या स्त्री सिर्फ देह है? सच तो यह है कि वह उसकी देह को भी प्यार नहीं कर पाता। जो जगत अपनी पत्नी की देह के सौन्दर्य के स्त्रोतों को कभी तलाश नहीं पाया, उसका आकर्षण हमेशा बाहर की लड़कियों की देह में है। यह कैसी विडम्बना है कि दूसरी लड़कियों के शरीर को बीमार मन से देखने वाला जगत खुद अपनी पत्नी की देह से अनजान और अपरिचित है। उससे सहवास के दौरान भी वह दूसरी स्त्रियों को जीता है। इस तरह अरूँधती रोज लहूलुहान और अपमानित होती है। उसका पति उसके लिए अगम्य है और वह अपने पति के लिए अबूझ। फिर वह अपने को कहाँ तलाश करे? खुद को किससे जोड़ कर देखे?

पति-पत्नी का साथ होते हुए भी बहुत दूर होने का अहसास, अलगाव का दूसरा स्तर है। अरूँधती की देह की सम्पूर्ण प्यास, जैसे अब भी जीवित है। अपनी देह को प्यार किये जाने की कामना को वह कहे भी तो किससे कहे? आखिर वह खुद को अपने में खोजने लग जाती है। वह अपनी ही देह से प्यार करने लग जाती है। जब वह अपनी देह के महत्व को पहचानती है तो पहली बार वह अपने-आप को भी पहचानती है। इसके बाद वह अपनी आर्थिक स्वतंत्रता के बारे में, आत्मनिर्भरता के बारे में सोचने लगती है।

शरीर हमारे भौतिक जीवन का आधार है। जगत से जुड़ाव के क्रम में इस शरीर के भीतर ही भावनाओं की तरंगें उठती हैं और हम अनुभूतियों की नमी महसूस करते हैं। सपनों का इन्द्रधनुष इसके भीतर ही खिलता है। पर हमारे समाज और संस्कृति में शरीर की समझ, स्वीकार और उसकी चाहतों को लेकन इतना ढोंग और पाखण्ड क्यों है? हम इससे इतने अनजान और अजनबी क्यों हैं? यह कहानी हमें अहसास दिलाती है कि स्त्री सिर्फ पुरुष के साथ अपनी तकलीफों, दुःखों और भावनाओं को ही नहीं बाँटना चाहती, वह अपने शरीर की चाहतों, इच्छाओं और कामनाओं का भी साझापन चाहती है। उसके भीतर जितना आग्रह अपने-आप को समझे जाने का है, उतना ही अपने शरीर को भी। एक सम्पूर्ण स्त्री अपने शरीर से अलग नहीं है।

'अँधेरी सुरंग में टेढ़े-मेढ़े अक्षर' शीर्षक कहानी हमारे समाज में लड़कियां की मानसिक संरचना और उसके व्यक्तित्व और चरित्र को गढ़ने वाली स्थितियों के प्रतिवाद की कहानी है। यह कहानी दो भिन्न पीढ़ी की स्त्रियों राजरानी और वधु को साथ लेकर चलती है और एक ही निष्कर्ष पर पहुँचती है कि हमारी सामाजिक व्यवस्था में स्त्रियों की प्रतिभा का स्वतंत्र, स्वाभाविक विकास नहीं हो पाता। हमारे यहाँ लड़कियों को अपने अनुभव से सीखने को प्रेरित नहीं किया जाता। उन पर अपने माता-पिता के अनुभव, विचार और फैसले बोझ की तरह लाद दिये जाते

Untitled-1 141 7/23/2010, 1:32 PM

हैं। इस प्रकार वह अपने रास्ते खुद तय नहीं करती। अपने शरीर, अपनी इच्छाओं, अपनी चाहतों, अभिरुचियों, यहाँ तक कि अपनी रुचि के अनुसार पहनने-ओढ़ने की आजादी भी उसे नहीं है। उसका जीवन - घर, पति और बच्चों का पर्याय बन जाता है। वह एक स्वंतत्र, आजाद व्यक्तित्व न होकर किसी की माँ, पत्नी, बेटी या बहन बनकर रह जाती है। स्त्री क्या किसी की माँ, बहन, पत्नी भर होती है? इस सब को घटा देने पर क्या स्त्री में कुछ भी नहीं बचता?

कहानी की मुख्य चरित्र राजरानी और विधु, दोनों को स्वतंत्रताएँ दी जाती हैं पर कुछ प्रतिबन्धों के साथ। ये प्रतिबन्ध और निषेध दोनों की स्वतंत्रता को नकली, दिखाऊ और सजावटी बना देते हैं। राजरानी और विधु दोनों को पेंटिंग पसन्द है पर पेंटिंग राजरानी के सामंती और गुजरे जमाने के पति के लिए जितना निरर्थक, बेमानी और गैऱजरूरी है, उतना ही विधु के आधुनिक, मध्यवर्गीय, पढ़े-लिखे माता-पिता के लिए भी। राजरानी के पति स्वीकार करते हैं— ''मैंने कभी मना नहीं किया कि पेंटिंग न करो'' पर इस शर्त के साथ कि ''बच्चे परेशान न हों, घर का काम न छूटे, मैं आऊँ थका-माँदा तो मेरे साथ हँसे-बोलें।'' विधु को भी अपने माँ-बाप द्वारा जीवन साथी चुनने की स्वतंत्रता तो दी जाती है पर इस सलाह के साथ—''बेटा सोच-समझकर कदम उठाना। मुसलमान, पंजाबी, एस.सी., एस.टी. की तरफ मत देखना। बिहारी, बंगाली वगैरह बड़े शातिर होते हैं, उधर मत जाना। आन्ध्र, केरल वगैरह में सब कुछ इतना भिन्न है कि कभी पट नहीं सकती। बेटे, उधर मुँह न करना। ये जो लड़के तुम्हारे साथ वहाँ पढ़ने गये हैं, सब यहाँ के कूड़ा हैं, उनके चक्कर में न आना...'' ('अँधेरी सुरंग में टेढ़े-मेढ़े अक्षर', वही पृ.-80)। विधु के मन में ठीक ही सवाल उठता है कि बचा कौन? कैसे करूँ इस स्वतंत्रता का उपयोग? राजरानी और विधु की पारिवारिक और सामाजिक स्वतंत्रता की निरर्थकता हमारी संवैधानिक स्वतंत्रता का ही बदला हुआ स्वरूप है। जहाँ एक तरफ हमें अभिव्यक्ति की आजादी दी जाती है पर दूसरी तरफ हमारी भाषा छीन ली जाती है। एक तरफ हमें निर्बन्ध उपभोग की आजादी तो दी जाती है पर खरीदने की क्षमता नष्ट कर दी जाती है। पढ़ने की स्वतंत्रता तो दी जाती है पर उसके लिए अवसर छीन लिया जाता है। वस्तुतः हमारी सत्ता की संरचनाएँ पारिवारिक और सामाजिक जीवन में गहरे तक धँसी होती है।

स्त्री विरोधी सामाजिक संरचनाएँ कितनी जटिल और मजबूत होती हैं, यह इस कहानी में कई स्तरों पर दिखती है। अदृश्य सी दिखने वाली रूढ़ियों, विश्वासों, मूल्यों और मान्यताओं में गजब की ताकत होती है। अक्सर चेतन स्तर पर हम उसका विरोध करते हैं पर वे अदृश्य ताकतें हमें अपने अनुरूप चलने को विवश करती हैं। हमारे समाज में स्त्री के व्यक्तित्व विकास के सारे रास्ते बंद हैं। उसके लिए समाज एक साफ-सुथरी खुली राह नहीं, अँधेरी सुरंग की तरह है। उसकी यात्रा की तैयारी भी वह अपने साहस और विश्वास के साथ नहीं कर पाती। कई तरह के निषेध, दिशा निर्देश, आतंक और भय उसके पाँव की बेड़ियाँ बन जाती हैं। इस तरह वह एक लुंज-पुंज प्राणी में परिवर्तित हो जाती है। लेकिन यही स्त्री जब रीढ़ तानकर खड़ी हो जाती है तो उसका अपना जीवन, समाज और दुनिया उसके लिए वही नहीं रह जाती। अपने परिचित लड़के से वांछित प्रेम और सहानुभूति की अपेक्षा अपने स्वार्थ और विकास के लिए इस्तेमाल किये जाने की प्रवृत्ति से विधु जब मर्माहत होती है और शादी के लिए जब अस्वीकृत

Untitled-1 142 7/23/2010, 1:32 PM

की जाती है तब उसे अपने जीवन का एक नया अर्थ दिखता है। वह अपने व्यक्तित्व को स्वतंत्र मार्ग पर चलने के लिए तैयार करती है। यह सुखद है कि राजरानी जीवन के अंत में जिस निष्कर्ष पर पहुँचती हैं, विधु अपने युवावस्था में उस सच्चाई को पा लेती है।

'बेतरतीब' एक जटिल अनुभव और यथार्थबोध की कहानी है। यह पति-पत्नी के चुभते, गड़ते, दुखते हुए सम्बन्धों की गवाही देती स्थितियों की कहानी है। एक पुरुष प्रभुत्ववादी समाज में परिवार के बिखराव, विघटन के कारणों की पड़ताल करने के साथ-साथ पति-पत्नी के उपेक्षापूर्ण, तनावग्रस्त सम्बन्धों के बीच बच्चों के किशोर मन पर पड़ने वाले प्रभावों तथा माता-पिता के साथ बच्चों के रिश्तों को भी यह कहानी प्रभावी ढंग से अंकित करती है। इस कहानी में स्त्री या पुरुष को पूर्व परिभाषित ढंग से दोषी ठहराये जाने के विरुद्ध कहानी लेखिका ने उनकी ही एक संतान के तटस्थ नजरिये से उन स्थितियों को जानने-समझने का प्रयास किया है, जिसमें स्त्री और पुरुष एक दूसरे के सुख-दुःख के साथी और सहयोगी न रहकर उपेक्षापूर्ण, सर्द तटस्थता, संवादहीनता और आक्रामकता का रुख अपना लेते हैं। एक दूसरे को जानने-समझने और सहारा देने की अपेक्षा एक सर्द प्रतिरोध और प्रतिहिंसा का भाव दोनों के भीतर जड़ें जमा लेता है। इस सम्बन्ध की भयावहता यह है कि दोनों के भीतर इन स्थितियों को लेकर चिंता, बेचैनी या किसी किस्म की तड़प नहीं है। दोनों ने रिश्तों की तलखी और कड़वाहट को सहज भाव से स्वीकार कर लिया है।

मुहल्ले के अन्य पुरुषों की तरह पड़ोस में नयी-नयी आयी 'मिसेज न्यू' के प्रति भगवतशरण जी का आकर्षण, उसके यहाँ आना-जाना और बढ़ती अन्तरंगता उनकी पत्नी रत्ना जी को चिन्तित करती है। कहानी का सबसे सशक्त, सार्थक और कलात्मक हिस्सा वह है, जहाँ भगवतशरण जी द्वारा पड़ोस की उस स्त्री के लिए लाये गये मूँगफली के पीछे बच्चों के दौड़ने, पीटे जाने और प्रतिवाद में उसके बिखर जाने का वर्णन है। यह कहानी का बीज स्थल है। टर्निंग प्वाईंट। यहाँ दृश्य, भाव, स्थितियाँ जितनी तीव्रता से एक साथ घटित होती हैं, उतनी ही सूक्ष्मता, बारीकी तथा सम्पूर्णता में उसे चित्रित करने की कोशिश की गयी है। यहाँ शब्द बहुत सशक्त, कैमरे की आँख से भी ज्यादा चुस्त-दुरस्त और फुर्तीले नजर आते हैं। यह हिस्सा कथा लेखिका की भाषिक क्षमता और कलात्मक सूझ-बूझ का श्रेष्ठ उदाहरण है।

हमारे समाज में आम तौर पर पति और पिता के अलावा पुरुष की एक सामाजिक और वैयक्तिक पहचान होती है। उसके सम्बन्धों का दायरा परिवार से बाहर भी होता है। अतः इस घुटन, जकड़न भरी स्थितियों से बाहर निकलने का कोई न कोई रास्ता ढूँढ लेता है। लेकिन अधिकांश स्त्रियों का पूरा जीवन घर-परिवार को ही समर्पित होता है। उससे अलग उसकी कोई पहचान नहीं होती। ऐसे में उसकी बेबसी, घुटन और पीड़ा ही भीतर घुमड़ती है। प्रायः यही स्थितियाँ उसे मानसिक असंतुलन की ओर ले जाती है। भगवतशरण जी अपने पड़ोसी कवि मित्र पुष्प जी और मास्टर साहब से अपने मन की बात कहकर दुःख की नदी से पल भर के लिए उबर जाते हैं। दुःख का समुद्र तो रत्ना जी के भीतर भी पछाड़ें खाता है पर वे उसे अभिव्यक्त नहीं कर पातीं। उनके पास तो यह सीमित विकल्प भी नहीं है। शायद उनके भीतर विकल्प की तलाश की इच्छा भी नहीं है। यह कहानी उन्हें इसी सीमित विकल्प की ओर ले

Untitled-1 143 7/23/2010, 1:32 PM

जाती है- ''किसी बूढ़ी औरत से बतियाने जाइये।'' औरत इसलिए कि एक औरत दूसरी औरत को जितना समझ सकती है, शायद पुरुष नहीं।

इस कहानी का मूल विषय वस्तु और केन्द्रीय प्रतिपाद्य यह है कि हमारे पुरुष-प्रधान समाज में एक स्त्री जब तक आँख मूँदकर पुरुषों द्वारा गढ़े गये मूल्यों, विचारों और व्यवहारों को आत्मसात् किये रहती है, तब तक सब कुछ सहज ढंग से चलता रहता है पर ज्योंही उन मूल्यों, विचारों, व्यवहारों पर प्रश्न उठाये जाते हैं, अधिकार और स्वतंत्रता के पक्ष में दबी जुबान से आवाज उठायी जाती है, सब कुछ रेत की दीवारों की तरह बिखर जाता है। मुहल्ले की नयी स्त्री से मेल-जोल और अन्तरंगता बढ़ाकर भगवतशरण जी ने ही पत्नी के अधिकारों को चुनौती दी थी। पत्नी, घर-परिवार और बच्चों के होते हुए एक परायी स्त्री के साथ अन्तरंगता और निकटता को भगवतशरण जी के साथ-साथ उस मुहल्ले के अधिकांश पुरुषों ने बढ़ावा दिया था। क्या वे अपनी पत्नियों को गैर पुरुषों के साथ ऐसे ही सम्बन्धों की छूट देते? जिस स्त्री से बोलने, बतियाने और सानिध्य पाने को वे सब इतने बेचैन रहते हैं, उसी स्त्री के पास अपनी पत्नियों को जाने से रोकते क्यों हैं? हमारे समाज में पुरुषों और स्त्रियों के लिए अलग-अलग मूल्यों, मानदण्डों पर सवार उठाना ही इस कहानी का मूल प्रतिपाद्य है।

'भीतर का वक्त' अपनी सीमाओं, विवशताओं, मजबूरियों के बीच भटकती, राह टटोलती एक स्त्री के व्यक्तित्व की तलाश की कहानी है। यह मातृत्व की उपेक्षा, तिरस्कार के साथ-साथ एक पत्नी की आशाओं, आकांक्षाओं, विश्वासों और अपेक्षाओं के दरकने, टूटने और बिखरने के दुःख को अत्यन्त संयम के साथ जज्ब करते हुए ठण्डे, खामोश और लगभग निःशब्द प्रतिरोध की कहानी भी है। घरेलू और पारिवारिक रिश्तों के भीतर छिपी अमानवीय क्रूरताओं को भी यह कहानी पहचानती है। आसन्न प्रसवा माँ और बच्चे के प्रति लोभी, क्रूर, चालाक बूढ़ी दादी की निर्मम, तटस्थ और सर्द प्रतिक्रियाएँ आतंकित करती हैं। सामंती क्रूरता और पूँजीवादी हृदयहीनता के सहमेल से ही ऐसे चरित्रों की सृष्टि होती है, जो हमारे समाज की प्रातिनिधिक विशेषता है।

कथावाचिका अंततः इस उदासीन, तटस्थ और निरपेक्ष संसार को त्याग कर बाहर निकल आती है। उदास, निस्संग और थकी हुई यह स्त्री शिक्षा को अपने हाथ की लाठी बनाती है। यही उसका सहारा है और मुक्ति का साधन भी। पढ़ाई ने ही उसे आत्मनिर्भर बनाया। आत्मनिर्भर होकर ही वह अपने बच्चे की परवरिश कर पायी।

कोई लड़की अपने जीवन की तमाम मजबूरियों, संघर्षों और टूटे हुए सपनों की गठरी लेकर पैरों में थकान लपेटे जब माँ और पिता के घर लौटती है, तब कभी उसका अपना रहा घर उसे कितना बेगाना, अजनबी और पराया लगता है? अपनी ही उपस्थिति उसे कितना गैऱ जरूरी लगती है? यह अहसास एक आम भारतीय स्त्री का अहसास है। वह एक घर को छोड़ कर निकलती है और दूसरे को तो बहुत पहले ही खो चुकी होती है। लड़कों की तरह लड़कियों का कोई अपना घर क्यों नहीं होता? कहानी से गुजरते हुए यह प्रश्न आन्दोलित करता है।

कहानी में एक स्त्री के घर का टूटना, छूटना या छोड़ना बाबरी मस्जिद के विध्वंस की पृष्ठभूमि में चलता है। एक तरफ समस्त राष्ट्र की चिन्ता, द्वन्द्व, तनाव, आतंक, भय और

Untitled-1 144 7/23/2010, 1:32 PM

सन्नाटा और दूसरी तरफ उस स्त्री के भीतर द्वन्द्व, घात-प्रतिघात कहीं न कहीं मिलकर एक हो जाता है। यह आकस्मिक नहीं है कि एक तरफ 06 दिसम्बर 1992 को बाबरी मस्जिद के ढाँचे को तोड़कर एक राष्ट्र की एकता, अखण्डता को तोड़ा जा रहा है तो दूसरी तरफ एक स्त्री का घर टूटकर बिखर रहा है। बाबरी मस्जिद के तोड़े जाने से पूरे देश और खासकर फैजाबाद में पसरा हुआ सन्नाटा, भय और आतंक कहानी की मुख्य चरित्र के द्वन्द्व और आन्तरिक उथल-पुथल को और ज्यादा गहरा बनाता है।

अल्पना मिश्र के दूसरे कहानी संग्रह 'छावनी में बेघर' की पहली कहानी 'मुक्ति-प्रसंग' एक उच्च मध्यवर्गीय अधेड़ कमाऊ दंपति के मन की गिरह और गाँठों को खोलती है। अधेड़ पुरुषों का मन भावना के आवेग, संवेदना की आत्मीयता और सहानुभूति की गहराई से अधिक देह के दलदल में धँसी होती है। इस कहानी के चरित्र डा. साहब एक ऐसे ही अधेड़ पुरुष हैं, जो उम्र के इस पड़ाव पर गुनगुनी धूप में अपनी पत्नी के साथ निर्वस्त्र स्नान करना चाहते हैं। खुले आसमान के नीचे अपनी पत्नी की देह को छूना, सहलाना और पाना चाहते हैं। तो क्या अब तक वे पत्नी की देह से अपरिचित रहे? पत्नी भी अपनी देह को लेकर कहाँ-कहाँ भागती और छुपाती फिरे। बस में, सफर में, घर में कह कोई उसकी देह को छूना, सहलाना और पाना चाहता है। क्या किसी ने उसके मन को, हृदय को, आत्मा को उसकी गहराई में उतरकर जानने की कोशिश की? उसके पति उसके शरीर की टूटन को, थकान को, नौकरी की परेशानियों को क्यों नहीं समझना चाहते? क्यों वे उसकी कमाई पर फुफकारते नाग की तरह कुंडली मारकर बैठे हैं? तो क्या जीवन भर उन्होंने एक दूसरे को प्यार नहीं किया? या उनके बीच साथ रहने की विवशता से उत्पन्न सिर्फ ऊपरी लगाव भर है? क्या यह स्त्री अपने पति की पालतू है? उसके पति ने अत्यन्त मोहक ढंग से सभ्यता, विवाह और परिवार के आवरण में उसके समग्र व्यक्तित्व का अपहरण कर लिया है। जिस घर में स्त्री-पुरुष दोनों नौकरी करते हों, वहाँ पति की नौकरी घर, परिवार, रिश्तों, नातों से ऊपर क्यों उठ जाती है? स्त्री की नौकरी इन सबों के साथ घिसटती हुई क्यों चलती है? घर-गृहस्थी के जंजाल में फँसी स्त्री क्या पति की अतृप्त कामनाओं, सपनों और कल्पनाओं के लोक में वैसे ही विचरण कर सकती है, जैसे एक पुरुष? ये तमाम प्रश्न कहानी के भीतर से उठते और बेचैन करते हैं। ऊपर से सुखी, शांत और समृद्ध दिखने वाले दाम्पत्य के खोखलेपन और अर्थहीनता को यह कहानी उजागर करती है।

हमारे महान् देश की उच्च शिक्षा जिन बूढ़े, खूसट और अपढ़ लोगों के कमजोर कंधों पर टिकी है, वे भीतर से कितने लिजलिजे, पाखण्डी, क्रूर और कायर हैं, इसका अहसास 'तमाशा- शीर्षक कहानी कराती है। इस कहानी का साठ वर्षीय वाह्य परीक्षक आम महिलाओं के दुख-दर्द, मजबूरियों और परेशानियों को अपने थोथे दिखावटी आदर्शों और सिद्धान्तों के आगे सुनने और समझने को तैयार नही है। वह उनका मजाक उड़ाता है। उपहास करता है। वही परीक्षक एक फैशनपरस्त, वाचाल और सभ्रांत महिला के आगे सारे सिद्धान्तों और आदर्शों को एक झटके में त्याग कर दुम हिलाने लगता है। यह हमारे समाज के औसत मध्यवर्गीय पुरुषों का चरित्र है। कुछ स्त्रियाँ भी पुरुषों की इन कमजोरियों को बढ़ावा देकर फायदा उठाने से नहीं हिचकतीं। वे इसे समय की मांग समझती हैं। यह कहानी ऊपर से विद्वान, आदर्शवादी,

Untitled-1 145 7/23/2010, 1:32 PM

सिद्धान्तनिष्ठ और सख्त होने का ढोंग रचने और अपने से कमजोर लोगों पर रौब गाँठने वाले लोगों के दोहरे चरित्र का पर्दाफाश करती हैं। ऐसे लोग आम लोगों की कमजोरी और बेबसी का तो मजाक उड़ाते हैं पर संभ्रान्त लोगों के कदमों में झुककर उनकी इन्हीं कमजोरियों को नजरअंदाज कर देते हैं। विडम्बना यह है कि ऐसे लोगों के पद और प्रभाव के कारण उनका प्रतिरोध नहीं किया जाता। सब कुछ देखते, जानते और समझते हुए भी चुप्पी साध ली जाती है। इस कहानी की नैरेटर अपनी छात्राओं के हित में इन स्थितियों का प्रतिवाद करती हैं, पर यह दुःखद है कि इस संघर्ष में वह अकेली है। अन्य सहकर्मियों का उसे सहयोग नहीं मिलता।

'जिम्मी के सपने' शीर्षक कहानी में 'जिम्मी' नामक पालतू कुतिया एक पशु चरित्र होते हुए भी भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति, उसके बारे में समाज की सोच और पुरुष प्रभुत्व के साँचों में ढली स्त्रियों के व्यक्तित्व की विडम्बना को बखूबी उद्घाटित करती है। जिम्मी की दीनता, निरीहता और दुर्दशा भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति का करुण आख्यान है। यह कहानी इस बात का अहसास कराती है कि मानवीय समाज के सच के अनुरूप हम पशुजगत् के यथार्थ को भी उसी मुहावरे में देखने और समझने लगते हैं। हमारे समाज की संरचना में निहित स्त्रियों को दोयम दर्जा देने वाली सोच मादा कुतिया के प्रति भी वही रवैया अपनाती है। स्त्रियों की 'सेक्सुएलिटी' को तरह-तरह से नियंत्रित करने वाला हमारा समाज जिम्मी की प्राकृतिक चाहतों का भी उसी तरह गला घोंटना चाहता है। पालतु पशुओं के साथ किया जाने वाला प्रेम, घृणा, उपेक्षा और क्रूरता का व्यवहार हमारे अपने ही परिवार में पलने वाली स्त्रियों के प्रति व्यवहार से बहुत कुछ मिलता-जुलता है। स्वतंत्रता एवं आजादी की इच्छा और आकांक्षा आम स्त्रियों की तरह जिम्मी को भी उसके पालक परिवार का शत्रु बना देता है। स्त्रियाँ और माताएँ जैसे अपनी बेटियों को अपने मनपसन्द खूँटे से बाँधने के बाद अपनी ही बेटी के प्रतिरोध और प्रतिवाद पर हिंस्र और आक्रामक हो उठती हैं, उसी तरह इस कहानी की स्त्री चरित्र का व्यवहार भी जिम्मी के प्रति है। अपने पालनहार माँ-बाप की इच्छाओं के विरुद्ध घर के बाहर बेटी का उठाया गया कदम उसके घर को हमेशा-हमेशा के लिए छीन लेता है। घर में पिटने के बाद बाहर भागी जिम्मी के लौटने के सन्दर्भ में जब कथा लेखिका टिप्पणी करती हैं कि—''इस दुनिया में सब कुछ मिल सकता है, औरत जात को उपयुक्त जगह नहीं मिल सकती'', तो स्पष्ट हो जाता है कि यह जिम्मी की कहानी होती हुई भी पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्री की नियति की कहानी है।

'लिस्ट से गायब' एक ऐसी पढ़ी-लिखी, सुन्दर मध्यवर्गीय स्त्री की कहानी है, जिसकी शादी ने उसके पढ़े-लिखे होने के अर्थ को निरर्थक बना दिया है। विवाह नाम की संस्था ने उसके स्वत्व, आत्मसम्मान और मानवीय गरिमा का अपहरण कर लिया है। उसके अधिकारी पति को उसके मन, आत्मा और शरीर के दुःख-दर्द में झाँकने की फुर्सत नहीं है। पति उसकी चिन्ता करे, उसका ख्याल रखे, उसके दुःख-दर्द में हिस्सा बटाये, यह उसके लिए एक सपना ही है। उसके अपने जन्म दिये गये बच्चों पर भी अधिकार नहीं है। पति के घर में उसकी स्थिति बिना पगार के नौकरानी जैसी है। वह पति के वंश को आगे बढ़ाने का जरिया मात्र है। उसकी ज़रूरतों, तकलीफ़ों और मनोभावों की उसे थोड़ी भी चिन्ता नहीं है। दुत्कार, फटकार और

Untitled-1 146 7/23/2010, 1:32 PM

अपमान सहती यह भरी-पूरी स्त्री जब अपने साहस बटोरकर अपने पाँव पर, अपने भरोसे उठ खड़ा होना चाहती है तो उसकी स्वतंत्रता की आकांक्षा और सपनों का भद्र समाज के लोगों के द्वारा मजाक़ उड़ाया जाता है। विडम्बना यह है कि जिस पति ने उसके समग्र व्यक्तित्व का अपहरण कर लिया है, उसी के पद और प्रतिष्ठा से उसे जोड़कर देखा जाता है। यह कहानी हमें उस कड़वे सच के रूबरू खड़ा करती है, जहाँ स्त्री की स्वतंत्रता और स्वीधीनता की ओर जाने वाले सारे रास्तों पर पुरुष प्रभुत्व का कड़ा पहरा है। ये जटिल स्थितियाँ एक पामाल, परेशान स्त्री को अंततः उसी वैवाहिक संस्था में लौट जाने को बाध्य कर देती है, जिसने उससे उसका सब कुछ छीन लिया है।

'इस जहाँ में हम' पुरुषों की दुनिया में स्त्री की बेबसी की कहानी है। इसमें घर-परिवार और पति-पत्नी के रिश्तों से बाहर स्त्री को समाज के बड़े दायरे के भीतर रख कर उसकी पारिवारिक, सामाजिक और पेशागत स्थितियों के द्वन्द्व और उनके आपसी घात-प्रतिघात से उपजी एक स्त्री की पीड़ा, मनोदशा और संघर्ष को समझने का सार्थक प्रयास है।

भूमंडलीकरण की अंधी दौड़ में हमारे देश के अन्दर समृद्धि के जिन जगमगाते टापुओं का निर्माण हुआ है, उसके इर्द-गिर्द और दूर-दूर तक पसरे अँधेरे में जीने वाले आम लोगों के जीवन के दुःख, पीड़ा और संघर्ष को जीने और रचने की कोशिश में 'बेदखल' जैसी कहानी लिखी गयी है। चरम आत्मकेन्द्रण एवं 'यूज एण्ड थ्रो' के इस युग में पारिवारिक और इन्सानी रिश्तों की अहमियत को समझते और उसके लिए अपने जीवन को समिधा बनाते लोगों की कहानी है यह। यह अपने और अपने परिवार की छोटी-छोटी चाहतों, जरूरतों और खुबियों को पूरा करने में परेशान और पामाल एक स्त्री के संघर्ष और जज्बातों की कहानी भी है।

'मिड डे मील' शीर्षक कहानी में कथा लेखिका ने भारत के असंख्य ग्रामीण सरकारी स्कूलों की दुर्दशा, शिक्षकों की दयनीय स्थिति और उनमें पढ़ने वाले बच्चों की मार्मिक और करुण दशा के साथ-साथ शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी संस्थाओं में ऊपर से नीचे तक फैले भ्रष्टाचार, लूट-खसोट और हृदयहीनता का भयावह चित्र प्रस्तुत किया है। यह कहानी भूमंडलीकरण के दौर में खाये, पीये, अघाये वर्ग के द्वारा भारत के विश्व महाशक्ति बनने के दावों के खोखलेपन को पूरी तरह उजागर कर असली भारत की दर्दनाक तस्वीर पेश करती है।

फौज की किसी भी देश की सत्ता या व्यवस्था को टिकाये रखने में अहम् भूमिका होती है। पर फौज की आन्तरिक व्यवस्था और कार्यप्रणाली अपने ही लोगों के परिवारों के प्रति कितनी हृदयहीन,संवेदनहीन, जड़ और यांत्रिक होती है, इसे अल्पना मिश्रा की कहानी 'छावनी में बेघर' में देखा जा सकता है। फौज की जिस व्यवस्था के अन्तर्गत युद्ध लड़ रहे फौजियों की वाजिब चिन्ता न हो और उनके परिवारों की चिन्ता और परेशानियों को बढ़ावा दिया जाता है, वैसे सैनिकों से दुश्मनों के साथ बहादुरी से लड़ने की कल्पना कैसे की जा सकती है? यह कहानी बहुत ही ईमानदारी भरा, मासूम सा सवाल फौज और देश के ठेकेदारों से पूछती है कि युद्ध में लड़ रहे सैनिकों के परिवारों की चिन्ता अगर फौज, सरकार और समाज को नहीं है तो फिर वे किसलिए लड़ रहे होते हैं, किसके लिए?

Untitled-1 147 7/23/2010, 1:32 PM

यह कहानी सिर्फ फौज की व्यवस्था पर ही सवाल नहीं उठाती, नागरिक समाज के लोगों के व्यवहार को भी कटघरे में खड़ा करती है। जिस नागरिक समाज के सुरक्षा की जिम्मेदारी फौजियों के ऊपर होती है, उनके परिवारों की सुरक्षा के प्रति समाज इतना गैर जिम्मेदार क्यों है? फौजी परिवारों के प्रति इस समाज का ठण्डा, निर्मम और निहायत धंधई व्यवहार फौजियों के परिवार के मन और आत्मा घायल कर जाता है। कहानी में आया यह वाक्य अत्यन्त मार्मिक है—''हम हर मकान मालिक के घर में एक चिट्ठी डालना चाहते हैं। कृपया वे अपने घरों को इस तरह बनायें कि युद्धकाल में लड़ाई में गये फौजियों के परिवारों को एक कोना दिया जा सके। हम सरकार को चिट्ठी नहीं डाल सकते। पतियों की नौकरी पर बन आयेगी'' ('छावनी में बेघर'/अल्पना मिश्रा/भारतीय ज्ञानपीठ/संस्करण 2008/पृ.-119)।

युद्ध पूँजीवादी व्यवस्था का अनिवार्य हिस्सा है। युद्ध और युद्ध लड़ने वाले फौजियों के बारे में यह कहानी कुछ जरूरी और जायज सवाल उठाती है। इन सवालों की समझ न तो फौजियों को होती है, न देशवासियों को। कहानी के ढाँचे के भीतर उठाये गये ये सवाल महत्वपूर्ण हैं। कथा लेखिका सवाल करती हैं कि ''किसके लिए है ये युद्ध? किसके लिए लड़ रहे हैं ये लोग? किसके लाभ के लिए? किसकी शान्ति के लिए? क्या निकल रहा है इनका परिणाम? क्या हो रहा है पीछे छूट गये परिवार का'' (वही. पृ.-122)? एक फौजी के बलिदानी जज्बे, देशभक्ति की कीमत क्या उसके परिवार वालों को सिर्फ कुछ पैसे देकर चुकाया जा सकता है? और बलिदान की कीमत क्या पद और ओहदे से आंका जा सकता है? लेकिन फौज में आम तौर पर यही होता है। फौज के अन्दर एक खास तरह की गैरबराबरी भी है। कहानी के भीतर उठाया गया यह सवाल भी महत्वपूर्ण है कि नागरिक समाज में पति के आकस्मिक निधन के बाद जब पत्नी या किसी परिवार के सदस्य को नौकरी दी जा सकती है, तो फौजियों की पत्नियों को क्यों नहीं?

अल्पना मिश्रा की अधिकांश कहानियों में घर और घर के बाहर स्त्रियों के व्यक्तित्वहरण की साजिशों का पर्दाफाश किया गया है। इस साजिस में माता-पिता की भूमिका भी बहुत महत्वपूर्ण होती है। सामाजिक मूल्यों और मान्यताओं के अनुरूप लड़कियों के व्यक्तित्व को काटने छाँटने की शुरूआत यहीं से होती है। माँ स्त्री होती हुई भी अक्सर पुरुष प्रभुत्व की व्यवस्था का अंग बन जाती है। हालांकि कुछ कहानियों के विश्लेषण से इस विश्वास को बल मिलता है कि एक स्त्री ही स्त्री के दुःख को सही रूप में समझ सकती है। ये कहानियाँ यह अहसास दिलाती हैं कि आम भारतीय मध्यवर्गीय परिवार में विवाह जैसी संस्था के भीतर ही स्त्रियों के व्यक्तित्वहरण की साजिश बहुत खूबसूरत ढंग से छिपी हुई है। यहाँ पत्नी होना किसी पहचान को पाना नहीं, अपनी पहचान को खो देना है। 'उपस्थिति' शीर्षक कहानी में लेखिका कावेरी के माध्यम से कहती हैं—''हाउस वाइफ बनना 'कुछ भी बन जाना' नहीं होता''।

दोनों संग्रह की प्रायः अधिकांश कहानियों में स्त्री-पुरुष के बीच फैले अपरिचय और अलगाव के बोध पर सर्वाधिक बल है। कुछ कहानियों में पुरुष स्त्री मन के भीतर नहीं उतरना चाहता। वह उसे उसके स्थूल शरीर में ढूँढता है। 'कथा के गैर जरूरी प्रदेश में' तथा 'मुक्ति प्रसंग' में तो लम्बा जीवन साथ गुजारने के बाद भी पुरुष स्त्री के तन से भी उतना ही अपरिचित

Untitled-1 148 7/23/2010, 1:32 PM

है। इस अपरिचय और अलगाव को लेकर पुरुष में कहीं गहरा पश्चाताप है, तो कहीं स्थिति को समझने के प्रति गंभीर अरुचि। 'अँधेरे सुरंग में टेढ़े मेढ़े अक्षर' शीर्षक काहनी में ठाकुर जगन्नाथ की पत्नी की मृत्यु के बाद उनके पश्चाताप की स्थिति पर टिप्पणी करती हुई लेखिका कहती हैं—''वे बड़बड़ाये। अशान्त मन। ऐसा सोचती थीं वे। तो क्या अब तक वे जान ही नहीं पाये, न स्त्री देह को, न मन को...हे प्रभु, वे किसके साथ रहे अब तक'', ('भीतर का वक्त', वही. पृ.-93)? यह सवाल सिर्फ इस कहानी के ठाकुर साहब का ही नहीं, पति-पत्नी के रिश्तों से जुड़ी बहुत बड़ी आबादी का है। साथ रहते हुए भी रिश्तों के बीच एक उजाड़, अपरिचय और अलगाव का काँटों भरा संसार बहुत दूर तक फैला है। इसी बहुत बड़ी आबादी के सुरंग जैसी जीवन के अँधेरे में अल्पना प्रवेश करती हैं।

Untitled-1 149 7/23/2010, 1:32 PM

कहानी में उछाल और दो नये चेहरे

प्रेम शशांक

हिंदी कहानी के लगभग सौ साल के इतिहास में छायावाद के बाद साठोत्तरी कहानी, नई कहानी, समान्तर कहानी, जनवादी-कहानी जैसे कुछेक मोड़ आए जब लगा कि इस विधा को केन्द्रीय स्थिति प्राप्त हो गई है। नई पीढ़ी के सन्दर्भ में कहानी एक बार फिर चर्चा में है और यह पड़ाव भी विगत अनुभव से कतई भिन्न साबित होने वाला नहीं है। कहना न होगा कि कुछ रचनाकार विधा की चर्चा-परिचर्चा से बेखबर अपने कथा स्वभाव और संस्कारों पर विश्वास करते हुए सदैव सक्रिय रहे हैं। उनके नाम इस समय भले ही उछलकर न आ पाये हों लेकिन कहानी के विकास-क्रम में उनके स्वस्थ रचनाकर्म को भुलाया और झुठलाया नहीं जा सकता। वर्तमान कथा-पीढ़ी में भी ऐसे बहुत से रचनाकार सक्रिय हैं जो खामोशी से रचनाकर्म में संग्लन रहे हैं। मनोज कुलकर्णी और निरंजन श्रोत्रिय ऐसे ही कहानीकारों में शुमार किये जा सकते हैं।

मनोज मूलतः चित्रकार हैं। कविताएं और कहानियाँ भी लिखते रहे हैं। संग्रह की पहली कहानी (शीर्षक कहानी भी) 'औघड़ समय' में वह व्यक्ति की बेहद सहज-स्वाभाविक वृत्ति को उभारते हैं कि कोई एक स्मृति चाहे वह जगह को लेकर हो अथवा चरित्र को लेकर इतना उद्विग्न कर देती है कि 'उसे पाये बिना चैन कहाँ?' जैसी स्थिति बन जाती है। कहानी के सन्दर्भ में बाबा जय शिव बचपन की स्मृतियों में बंद एक ऐसा ही चरित्र है जो बरसों-बरस बाद भी स्मृति-पटल से 'रेज' टू नहीं हो पाता है,—'कोई पैंतीस-सैंतीस की उम्र, चमकीली साँवली काया, तीखी नाक, बड़ी-बड़ी लाल आँखे, भूरे जटाजूट, फरहाती दाढ़ी, भव्य मस्तक पर भस्म का त्रिपुन्ड, कानों में छोटी-छोटी बालियाँ, कलाई में ताँबे का मोटा कड़ा, एक हाथ में कमण्डल और दूसरे में चमयचमाता त्रिशूल, उस पर बँधा हुआ छोटा सा डमरू। नाटा कद, लम्बा उदर, गले में झूलती रूद्राक्ष की माला और कंधे पर लटकती पोटली। जय शिव..जय शिव.. के लयात्मक घोष और लकड़ी की पादुकाओं की संगतकारी खर-खर से, उसके आगमन को लोग दूर से ही जान जाते। शहर की आँड़ी-टेड़ी गलियों से जब वह गुजरता, मोहल्ले के बच्चों को झुण्ड़, उसके पीछे हो लिया करता। मेरे बचपन की सुबहों का एक बड़ा हिस्सा,

Untitled-1 150 7/23/2010, 1:32 PM

दोस्तों के साथ बाबा जय शिव के पीछे डोलते हुए बीता। जिस तरह एक-एक चीज राई रेशा नायक की स्मृति में अंकित है वह केवल दूर से देखा भर दृश्य नहीं है बल्कि वह उसका हिस्सा है बरसों-बरस बाद नायक की उससे मिलने की इच्छा, निजी जिज्ञासा तक सीमित नहीं है। उसे बाबा जय शिव के चरित्र में जरूर कुछ ऐसा नजर आता है जो वर्तमान से उपजी संघर्ष स्थितियों से उबरने में सहायक हो सकता है। यदि स्वप्नेच्छा स्मृतियों के बहाने बाबा जय शिव को खोजने को प्रेरक बनती है और एक उबड़-खाबड़ यात्रा के लिए तैयार भी करती है। कहानी की विकास प्रक्रिया में यह यात्रा जिस जिज्ञासा और भाव-विवशता में शुरू होती है, लेखकीय लक्ष्य के सन्दर्भ में उसका अन्त बेहद सार्थक कहा जा सकता है क्योंकि उस औघड़ बाबा से नायक के संवादों से वर्तमान की धुँध छँटती नजर आती है और नायक के मन में दबा लक्ष्य की इस औघड़ समय को कोई औघड़ बाबा जय शिव ही खंगाल सकता है, सच साबित होता है लेकिन विश्लेषण की दृष्टि में एक प्रश्न भी छोड़ जाता है कि यह महज संयोग है अथवा कटु सत्य की हिंदी कहानी में इधर वर्तमान के सच को जब भी उधेड़ा गया है वहाँ मन्द बुद्धि, पागल अथवा जय शिव जैसे औघड़ चरित्र ही मुठभेड़ करते नजर आते हैं। सामान्यजन तो विरोधाभासों से तालमेल ही बैठाते नजर आते हैं। क्या इसे समाज के सुधीजनों के असुरक्षा बोध से जोड़कर देखा जाना चाहिए जहाँ जीने की आंकाक्षा विवशता में बदल जाती है और उन सभी सचों पर भारी पड़ती है जो उन्हें पूर्ण मनुष्य होने का दर्जा देते हैं। वर्तमान में सामाजिक बदलाव की तैयारी में अपूर्ण अनुभवों की सक्रिय हिस्सेदारी सिर्फ लेखकीय कमजोरी भर नहीं है यह मूल्यों के संक्रमण की सूचना है

'औघड़ समय' शीर्षक कहानी तक सीमित नहीं है बल्कि संग्रह की अन्य कहानियों में भी पसरा हुआ है। संग्रह की अगली कहानी 'किस्सा-ए-सुनील बिल्लौरे उर्फ होना कस्बे के कवि का क्रान्तिकारी' के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि जिस तरह पहली कहानी के नायक के माध्यम से कहानीकार बाबा जय शिव के जीवन में दखल देता है, संवेदना और भाषा के माध्यम से दूसरों के जीवन में झांकने का यह सिलसिला इस कहानी में भी जारी रहता है। वह सुनील बिल्लौरे और प्रतिभा श्रीवास्तव के प्रेम सम्बन्धों और रामदास नानवाणी और सुधा गोडवानी के प्रेम सम्बन्धों के मार्फत उनके जीवन में सीधे और बेधड़क हस्तक्षेप करता है और यह हस्तक्षेप वहाँ जाकर खत्म होता है कि इस औघड़ समय में 'प्रेम' के लिए कोई स्थान अथवा सम्मान पारिवारिक और सामाजिक मान्यताओं के दायरे में उपलब्ध नहीं है। समाज में रीति-रिवाज और जाति, वर्ण, गोत्र की व्यवस्थाएं शिक्षा और सजगता के बावजूद कहीं ज्यादा सशक्त हुई है। राष्ट्रीय परिदृश्य में पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पंजाब, हरियाणा की बेल्ट में युवक-युवतियों के प्रेम का अन्त उनकी हत्याओं-आत्महत्याओं के साथ ही हुआ है। पंचायत व्यवस्था जो आज मनुष्य की स्वतंत्रता और परेशानियों के हल के वास्ते शुरू कर दी गयी थी, अपने उद्देश्यों की हत्या करने पर उतारू नजर आती है लेकिन समीक्ष्य कहानी में प्रेम परिवार की चौहद्दी में ही दम तोड़ता नजर आता है। सामाजिक विरोध और प्रेम के अन्त की सूचनाएं तो जग-जाहिर हैं लेकिन उस प्रेम का क्या? जो मन ही मन अपने अन्त को पा लेता है। इस कहानी के माध्यम से कहानीकार समाज की एक मुखर सच्चाई के विरुद्ध एक ऐसी समान्तर

Untitled-1 151 7/23/2010, 1:32 PM

सच्चाई को सामने रखता है जो मूक घटनाओं के लिए कहीं ज्यादा उत्तरदायी है। वह पिता और परिवार के अन्य परिजनों की व्यवस्था को प्रेम के मुकाबले कहीं ज्यादा मजबूत पाता है। सुनील बिल्लौरे और प्रतिभा की अधूरी प्रेम कहानी नामालूम कितने युगलों की मूक व्यथा का प्रतिनिधित्व करती है। यद्यपि कहानी चरित्र-चित्रण और कथ्य संप्रेषण के सन्दर्भ में एक रैखीय संवेदना को ही व्यक्त करती है तथापि औघड़-समय की प्रतीति एक बार फिर होती है। इस कहानी से शिक्षित और संवेदित मनुष्य की विवशता और कायरता तमाम प्रगति और प्रगतिशील मूल्यों की पक्षधरता (नाटकीय) के बावजूद हांट करती है और इस मध्यवर्गीय अरण्य में सुनील बिल्लौरे कतई अकेला नहीं है। कहानीकार की व्यंग्यात्मक भंगिमा जिस तरह संवेदनात्मक ढंग से सुनील बिल्लौरे को उघाड़ती है, यह चुमन भले ही इकाई स्तर पर चुभती हो लेकिन असल में यह वर्गीय चुभन है जो इस चरित्र के माध्यम से वर्गीय लंपेनपने को सामने लाती है। जो सुविधाओं की कीमत पर संघर्ष से बराबर जी चुराता रहा है और निरन्तर निजी स्वार्थों के लिए सामाजिक संकट को कहीं ज्यादा गहराना रहा है।

कहानीकार चरित्रों में ही नहीं, जगहों को लेकर भी उलझता रहा है। दरअसल उसके रचनात्मक तोष के मार्ग इन्हीं से फूटते हैं, वह इन्हीं से अपनी ऊर्जा पाता है। गाँव शहर और कस्बे, मुझे लुभाते रहे हैं। मौका-बेमौका, किसी गाँव शहर गाँव की धूल-छानने, गलियाँ नापने, उसके अतीत में झांकने, उससे बोलने-बतियाने और एक आत्मीय रिश्ता कायम करने की ललक हमेशा से रही। उसकी यह ललक सिर्फ रचनात्मक उद्देश्यों तक सीमित नहीं है बल्कि सामाजिक-सजगता की बेचैनी से उत्सर्जित है जो बेहद सहज और स्वाभाविक रूप से रचनात्मक विधाओं में ढलने को प्रयत्नशील होती है।

संग्रह की तीसरी कहानी 'हरसूद' (मध्य प्रदेश में नर्मदा नदी पर बनाए गए इन्दिरा सागर बाँध के डूबे क्षेत्र में आया एक कस्बा, जहाँ निवासियों को मुआवजा लेने के लिए अपने मकानों को तोड़ने के लिए बाध्य किया गया था। इन विस्थापितों को नजदीक के एक गाँव छनेरा (नया हरसूद) में पुनर्वास के लिए भेजा गया) सामाजिक विसंगतियों से उत्पन्न व्यवस्था की ऐसी ही निजी संवेदना से शुरू सामान्य घुमक्कड़ी से होती हुई कब कुछ खत्म होने के आशंकीय संकट से जुड़ जाती है कि कब अपने वजूद में मिट जाने वाले गाँव 'हरसूद' से वह खुद के ब्यौरे-दर ब्यौरे, चित्र-दर-चित्र संवेदनात्मक क्षरण से जोड़ लेता है जहाँ एक सामान्य सी खबर धीरे-धीरे खून के दौरान के साथ शिराओं में पूरी धमक के साथ दौड़ने लगती है। कहानी की यही रचनात्मक चुनौती होती है जो खबर और कहानी के भेद को स्पष्ट और व्यापक बनाती है। 'लौट कर जाऊँगा जब यहाँ से, कागज पर छपे नक्शे से पोंछ दिया गया होगा-हरसूदा छनेरा में हरसूद को बसा देने की जिद, थोथे दावों और लोगों की अनथक जिजीविषा के बावजूद, वहाँ भी नहीं होगा हरसूद। तब इतिहास के पन्नों के अलावा, मेरी स्मृतियों की समाधि में, नर्मदा का कफन ओढे रहा आएगा हरसूद। टैक्सी हरसूद छोड़ रही, लेकिन हरसूद छूट कहाँ रहा?' सच में हरसूद नहीं छूट रहा। हरसूद कागजों में पुँछ सकता है, भौतिक रूप में पानी में समा सकता है लेकिन स्मृत्तियों में संवेदना के स्तर पर कभी नहीं मिटाया जा सकता। संवेदना के निशान अमिट होते हैं। चरित्रों और जगहों के लिए कहानीकार की संवेदना ऐसे ही अमिट

Untitled-1 152 7/23/2010, 1:32 PM

निशानों से सराबोर है। यही कारण है कि कहानी-दर-कहानी वे अपनी स्पेस लेते जा रहे हैं। 'निर्वासन' में तो जैसे चरित्रों और जगहों का जमघट ही हो। हर चरित्र के भीतर एक 'हरसूद' अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख है। लेकिन हरसूद की स्मृति भर इस कहानी में नहीं है, वह दूर से देखे गये सपने का दंश भर नहीं है, वह एक संघर्ष की राह से गुजरता है सुप्रीम कोर्ट तक और सुप्रीमकोर्ट से कानूनी हार के बाद एक नये संघर्ष का उन्वान होता है। भले ही संघर्ष की इस राह में कुछ साथी बीच में ही छूट जा रहे हों। गाँव हरसूद की आबादी के निर्वासन के साथ इस संघर्ष में शामिल शिल्पा, अक्षय के साथ बसाई जिन्दगी से निर्वासन की कगार पर है। प्रतिरोध और संघर्ष की राहें जुदा हो रही हैं। एक तरफ वे हैं जो भीड़ का हिस्सा हैं और दूसरी ओर जमीनी संघर्ष के लिए तत्पर चरित्र हैं। इन दोनों के बीच यही विभाजक रेखा शिल्पा को निर्वासित होने के लिए विवश करती है। इस कहानी में भी चरित्रों के लिहाज से कहीं ज्यादा भीड़ है और इस भीड़ में शामिल हर शख्स एक अलग पहचान के लिए संघर्षरत है जो रूटीन की पहचान को तोड़ती हो जिस पहचान के मूल्य जीवन पर भारी पड़ते हों। अक्षय की शुरुआत भी एक एक ऐसे शख्स के रूप में होती है, जिससे शिल्पा उसके साथ जीवन बिताने का निर्णय लेती है लेकिन संघर्ष के व्यावहारिक धरातल पर प्रायः जीवन संघर्ष के लक्ष्य पर भारी पड़ने लगता है जैसे व्यक्ति के ऊपर से कोई केंचुल उतर रही हो। यह जीवन की कसौटी है, अपना पक्ष चुनने को हरेक स्वतंत्र है और दोनों राहें एकदम जुदा हैं।

संग्रह की अन्य दो कहानियाँ 'अनटाइटल्ड' और 'चैन की नींद' कहानीकार की कहानी-कला के उतार के उदाहरण कहे जा सकते हैं। जहाँ 'अनटाइटल्ड' कहानी में स्मृत्तियों पर कुछ अधिक ही आश्रित होना एक रैखीय प्रभावान्वति की ओर ढकेलता है, वहीं 'चैन की नींद' कहानी भी कहानीकार की कहानी-कला और कथा-स्वभाव से अलग-थलग पड़ जाती है। कथा-भाषा सारे प्रयत्नों के बावजूद पूर्व कहानियों की भाँति जादू बिखेरने में असफल रहती है, कुछ-कुछ 'अनटाइटल्ड' कहानी के इस अंश की तरह।

दुनिया और दुनियादारी से भागता-छिपता मैं यहाँ आया हूँ। ये कोई नयी बात नहीं। भागना आदत रही मेरी। जब-तब भागा हूँ। परिस्थितियों से डर कर। अपनों से लड़-झगड़कर। दुःखों की अशंका से। जिम्मेदारियों से । यहाँ तक की अपने आप से भी।

यह भी कहानीकार की कहानियों का एक नंगा सच है। 'औघड़ समय' का नायक बाबा जय शिव से डर कर भाग जाता है। सुनील बिल्लौरे प्रतिभा और परिवार से डर कर खुद ही अपने प्रेम का अन्त कर लेता है। 'हरसूद' का नायक टैक्सी से पलायन ही करता है। 'निर्वासन' का अक्षय भी संघर्ष से डर कर, संघर्ष और शिल्पा दोनों से पलायन ही ठीक समझता है। भाग तो लेता है आदमी, कभी-कभी खुद से भी। लेकिन यह विभ्रम से ज्यादा नहीं है। जिम्मेदारियों से चाहे जितना मुँह मोड़ा जाए, वे पीछा कहाँ छोड़ती हैं? हाँ नई जिम्मेदारियाँ पुरानी जिम्मेदारियों को रिप्लेस जरूर कर देती हैं। संग्रह की शुरू की चार कहानियाँ निश्चय ही कहानीकार की कहानी-कला के प्रति आश्वास्त करती हैं। भाषा के स्तर पर कहानीकार काव्य संस्कारों से समृद्ध है तो चित्रकला से लगाव के चलते शब्दों के साथ मितव्ययी होने के बावजूद चित्रण प्रभावी और बेधक है।

Untitled-1 153 7/23/2010, 1:32 PM

कहानी के समकालीन परिदृश्य में वे कहानीकार कहीं ज्यादा समर्थ नजर आ रहे हैं जो कवि के रूप में चर्चित रहे हैं। समीक्ष्य कहानी संग्रह 'धुँआ' के कहानीकार निरंजन श्रोत्रिय एक ऐसे ही कवि के रूप में देखे जा सकते हैं। उनकी कहानियों के संघर्ष में कहा जा सकता है कि जहाँ उनकी कहानियाँ शिल्प के मामले में सशक्त और काव्य-आस्वाद की ताजगी से लैस है वहीं कथ्य के मामले में बेहद मामूली कही जा सकती हैं क्योंकि इन कहानियों में कथा कि दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण कहने की कोशिश की ही नहीं गई है। संग्रह की हर कहानी से एक ही स्वर निकलता है कि हम लिखते क्यों है? क्या इसके लिए हम सही हैं अर्थात यहाँ लेखक ही कशैटी पर है समीक्ष्य संग्रह की कहानियों के चरित्र शुचिता के कायल हैं और यह कहानीकार का लेखकीय स्वभाव है। यह कहानीकार की कहानी कला का सशक्त पक्ष है। यद्यपि यह कलात्मक स्तर पर बेहद जोखिमपूर्ण हो सकता था, लेकिन कलात्मकता से ही यह जोखिम टलता रहा है। संग्रह की पहली और शीर्षक कहानी 'धुआँ' उसी धुँध को दूर करने का सशक्त प्रयास कहा जा सकता है। इस कहानी का कथ्य मामूली, सादगीभरा, जोखिमपूर्ण और जटिल भी कहा जा सकता है। एक कहावत अक्सर कही जाती है 'चिराग तले अंधेरा' और इस कहानी में कहानीकार को 'चिराग तले अंधेरा' खोजने में संलग्न देखा जा सकता है। देश के जाने-माने लेखक-आलोचक और लेखक संगठन के राष्ट्रीय अध्यक्ष जब नायक के छोटे शहर में संगठन के अधिवेशन के सर्वेक्षण के लिए दो दिनों के लिए आते हैं और नायक-लेखक जिस तरह उनके आगमन को लेकर पलक-पाँवड़े बिछाये और बेसब्र नजर आता है लेकिन उनके आगमन के साथ जिस तरह उनकी और शहर के अन्य कवि-लेखकों की गतिविधियों से जो एक नई दुनिया जिस तरह खुलती चली जाती है कि लेखक, लेखक संगठन और लेखन तीनों ही एक सीध में खड़े बेजार नजर आते हैं और यह सब कुछ नायक की चरित्रगत-शुचिता के समक्ष खुद-ब-खुद बौना होता नजर आता है।

व्यवहारिक कसौटी चरित्रगत शुचिता का प्रश्न बेहद हास्यास्पद कहा जा सकता है लेकिन यथार्थ जगत में जब दो प्रकार के चरित्र समान्तर यात्रा से गुजरते हैं तो निःसन्देह चरित्रगत शुचिता अर्थवान हो उठती है। कहानी के सन्दर्भ में ही लें तो देखा जा सकता है कि नायक सुनील की तुलनात्मक समान्तर प्रतिस्पर्धा स्थानीय स्तर पर मिलिन्द कुमार (परिदृश्य में) रघुनाथ, विलास, शिखा चौहान (परिवेश) से शुरू होकर कहानी के विकास के साथ कब दिवाकर जी के साथ शुरू हो जाती है पता ही नहीं चलता। लेकिन इतना तय हो जाता है कि राष्ट्रीय स्तर के कद के लेखक दो दिनों की खुलती दुनिया में बौने होने जरूर शुरू हो जाते हैं और कथा-विकास के साथ कहानी के अन्त में नायक लेखक-लेखक संगठन और लेखन तीनों को ही तर्क की कसौटी पर प्रश्नों के घेरे में ले आता है। क्योंकि ये तीनों ही चीजें उसमें जिस तरह से चरित्रगत शुचिता से जुड़ी हैं, व्यवहारिक स्तर पर उन दो दिनों में जो दुनिया उसके सामने खुलकर आती है वह निश्चय ही उसकी सोच और परिकल्पना से बहुत अलग होती है जो अन्य लोगों (चरित्रों) के दृष्टिकोण से व्यवहारिक और तर्कसंगत कही जा सकती है लेकिन रचनात्मक स्तर पर जीवन के सारे प्रतिरोध और संघर्ष चरित्रगत-शुचिता के बिना तो एकदम बेहूदा और असंगत ही होंगें। यहाँ कथनी (चरित्रगत-सोच) और करनी (व्यवहारिक धरातल)

Untitled-1 154 7/23/2010, 1:32 PM

में भेद-भिन्नता ही कवि-कहानीकार का लक्ष्य कहा जा सकता है। संग्रह की अन्य कहानियाँ यथा 'कन्धे', 'शरणागत', 'प्लेग', 'कहानी के नाम पर', 'बेरोजगार', 'जानवर', 'अर्धसत्य', और 'औरत' उत्तर कथाः भी कहीं न कहीं व्यक्ति के स्वभाव पर चोट करती हैं।

कहानीकार की नजर में निःसन्देह लेखक समाज में एक अलग जगह होना चाहिए जिसे दूसरों से बेहतर कहा जा सके तथा जिसमें समाज की बेहतरी के लिए काम करने का न केवल जज्बा हो बल्कि दूसरे उससे कुछ प्रेरणा लें और समाज में चरित्रगत स्तर पर बदलाव आए। दरअसल यह लेखनाकांक्षा कुछ गलत नहीं हैं। कोई भी ऐसा प्रयास जो सामाजिक दृष्टि से स्वस्थ हो, दूसरों के लिए निश्चय ही अनुकरणीय होना चाहिए। फिर लेखक से बेहतर सम्भावना समाज के किस चरित्र में खोजी जानी चाहिए। कहना न होगा कि जीवन की अंसगतियों और विडंबनाओं के लिए जिस नैतिकता और साहस की जरूरत होती है, कहानीकार लेखक में उसे खोजना चाहता है लेकिन जमीनी हकीकत जिस तरह 'धुआँ' में नजर आती है उससे ही उठते प्रश्न कुछ अलग ढंग से 'कहानी के नाम पर' में भी उठते नजर आते हैं। आत्म-विश्लेषण के रूप में ही सही, क्या कहानीकार लेखक जीवन की जमीनी हकीकत को नहीं छू रहा?' जा साले लेखक की औलाद चूल्हे में। तेरे न लिखने से दुनिया रुक नहीं जायेगी। वैसे ही शानदार और फर्राट चाल से चलती रहेगी। और लिखता भी क्या है तू। मनहूसियत को कलम में भरकर हमेशा इस रंगीन दुनिया को बदरंग करने की कोशिश में लगा रहता है। तेरे लिखने से इस दुनिया में दशमलव रत्ती का फर्क न पड़ेगा, तू चाहे कुछ भी मुगालता पालता रहे। यह आत्म-विश्लेषण आईना देखने जैसा ही है। जैसे कहा जाता है कि आईना कभी झूठ नहीं बोलता है तो यही कसौटी बन जाता है तभी तो कथा नायक कह पाता है कि ''मैं उस कायर पीढ़ी का लेखक हूँ जो प्रहार तो चारों ओर करना चाहते है मगर बगैर किसी को शत्रु बनाए। सारी तलवारे शून्य में भाँजी जाती हैं।'' जिस तरह लेखक छोटे-छोटे स्वार्थों (काफी कुछ 'धुआँ' में दिखाया गया है) यथा पत्रिका और प्रकाशन में जगह बनाने के लिए संपादकों और प्रकाशकों के आगे पीछे घूमता है, पुरस्कारों के लिए दौड़ में हाँफता और जी हलकान किये रहता है, चर्चा के लिए यहाँ-वहाँ तलुए चाटता नजर आता है अर्थात उसके चरित्र और व्यवहार में जिस तरह की गिरावट आ रही है उससे न केवल वह पथभ्रष्ट होता जायेगा बल्कि उससे किसी बेहतरी की उम्मीद करना भी बेमानी होगी क्योंकि वह स्वयं जिस तरह की कायरता से घिरा होगा उसका उदाहरण भी कहानी में मिलता है उसकी बानगी भी असंगत न होगी मैं लेखक हूँ, मान लीजिए मैं प्रभावशाली ढंग से लिखता हूँ कि अयोध्या के विवादित स्थल को हिन्दुओं को दे दो तो मुसलमान मेरी जान के प्यासे हो जायेंगे। अगर मैं यह लिखूँ कि इसे मुसलमानों को दे दो, तो हिन्दू मुझे जिंदा जला देंगे। अगर मैं कहूँ कि इसे राष्ट्रीय स्मारक बना दो, तो दोनों कौमें मिलकर मुझे मार डालेंगी।, यह एक ऐसा उदाहरण है जो बीच के रास्तों को ही सुगम और निरापद कहा जा सकता है अथवा 'सबसे भली चुप' की ओर संकेत करता है। इन आत्म-विश्लेषण नुमा उदाहरणों से समकालीन लेखक की चुनौतियों और लेखकीय जोखिम को समझा जा सकता है जो निश्चय ही सारे ऊपरी खोल और परतें उघाड़ देता है। सिर्फ लिखना ही रचना क्रम नहीं है बल्कि समाज से जिसकी सीधी

Untitled-1 155 7/23/2010, 1:32 PM

भागीदारी जवाब देह बनाती हो वही सच्ची रचनाशीलता है, कहानीकार का वैचारिक रचनात्मक पक्ष है।

'कन्धें', 'बेरोजगार', 'प्लेग', 'जानवर' और 'अर्धसत्य' कहानियाँ कथ्य की दृष्टि से पुरानी और प्रचलित संवेदना की कहानियाँ कही जा सकती हैं। लेकिन अनुभवीय-टच इन कहानियों मे ताजगी भरने की भरपूर कोशिश करता है इन कहानियों के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि कुछ अनुभव और अनुभूतियां लेखक के भीतर इतने गहरे पैठ जाते हैं कि रचनात्मक निवृत्ति ही एकमात्र उपाय रह जाता है। लेकिन इन कहानियों में जज्ब आग लेखकीय निजता की रक्षा करती है अर्थात कथ्य के दुहराव के बावजूद निजता के स्तर पर रचनात्मकता इतनी सशक्त है कि स्पष्ट रूप में 'जानवर' और 'अर्धसत्य' कहानियों को उनसे अलगाया जा सकता है। ये कहानियाँ व्यक्ति की कायरता को उभारती हैं। दरअसल चारित्रिक कायरता का प्रश्न जितना सामाजिक सत्य के रूप में देखा जा सकता है। उतना ही कहानीकार की रचनात्मक सच्चाई के रूप में उभर कर आता है। इस तरह कहानीकार समाज की सबसे सही जगह पर अँगुली रखता है जिससे उबरे बिना कोई समाज उन्नति नहीं कर सकता। चारित्रिक रूप से नैतिक और साहसिक हुए बिना न तो जीवन में कुछ किया जा सकता है और न ही रचनात्मक जगत में कोई उम्मीद की जा सकती है। 'शारणागत' 'और औरत : उत्तरकथा' कहानियां कथ्य और शिल्प के सधेपन और ताजगी के लिए कहानीकार की निजता के फैलाव के रूप में देखी जा सकती है। संग्रह की अन्तिम कहानी में जिस तरह छोटी-छोटी टिप्पणियों से कहानी गढ़ने की कोशिश की गई है, ये टिप्पाणियाँ बिखराव के बावजूद भारतीय स्त्री की मुकम्मिल तस्वीर पेश करने में कामयाब कही जा सकती है। इन टिप्पणियों की अर्न्तसम्बद्धता ही इन्हें एक साथ जोड़ते हुए कहानी की शक्ल मुहैय्या कराती है।

कवि निरंजन श्रोत्रिय की ये कहानियाँ निःसन्देह उन कवियों से अपेक्षा बढ़ा देंगी जो कविता से कहानी में आते हैं। कवियों का कविता से कहानी की ओर विधान्तरण लेखन और पठन-पाठन दोनों ही स्तरों पर सुखद कहा जा सकता है। काव्य स्वरूप और संस्कारों से लैस मनोज और निरंजन दोनों ही कवियों में कथाभाषा के लिहाज से जो ताजगी नजर आती है। रचनात्मक दृष्टि से स्पृहणीय है।

समीक्षित पुस्तकें

(1) औघड़ समय (कहानी) ले. मनोज कुलकर्णी
प्र. मेधा बुक्स, एक्स-11, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
प्र. संस्करण 2009, मूल्य- 150 रुपये, पृष्ठ 101

(2) धुआँ (कहानी) ले. निरंजन श्रोत्रिय
प्र. शिल्पायन, 10295, ले. नं. 1, वैस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली -110032
प्र. सं.-2009, मूल्य- 130 रुपये, पृष्ठ-96

Untitled-1 156 7/23/2010, 1:32 PM

समय और समाज से गहरे सरोकार की कहानियाँ

गोरख नाथ

आज का हिंदी कथालेखन निरन्तर विकासशील एवं सर्जनशील बना हुआ है। इस समय अनेक कथा लेखक अपनी संवेदना एवं रचनागत विशिष्टताओं के बल पर न केवल हिंदी कथालेखन को अत्यधिक समृद्ध एवं विकसित कर रहे हैं, अपितु अपनी रचनात्मकता को अलग पहचान भी बना रहे हैं। पुरानी और बीच की पीढ़ी के कथाकार अपनी पूर्वार्जित रचनात्मक क्षमताओं एवं उपलब्धियों को बदले हुए जीवन सन्दर्भों की रोशनी में और अधिक समृद्ध एवं विकसित कर रहे हैं, तो नयी पीढ़ी के कथाकार भी अपनी परम्परागत विरासत को आधार बनाकर बाजारवादी, पूँजीवादी एवं उपभोक्तावादी दौर के जीवन की जटिलताओं तथा ज्वलन्त प्रश्नों को और गहराई एवं तीखेपन के साथ हमारे सामने उद्घाटित कर रहे हैं। यहाँ पर अपने समय के दो महत्त्वपूर्ण कथाकारों के शीघ्र ही प्रकाशित हुए कहानी संकलनों को आधार बनाकर इन संकलनों की कहानियों और आज के हिंदी कथालेखन पर विचार किया जा सकता है।

शिवदयाल समकालीन हिंदी कथालेखन के एक समर्थ रचनाकार हैं। इनका कहानियों का एक संकलन इस वर्ष 2009 में 'मुन्ना बैंड वाले उस्ताद' के नाम से आया है, जिसमें कुल ग्यारह कहानियाँ हैं। दूसरी महत्त्वपूर्ण कहानीकार सुमति सक्सेना लाल हैं। इनका भी नौ कहानियों का एक संकलन इसी वर्ष 'अलग-अलग दीवारें' नाम से आया है। ये दोनों ही कहानी संकलन हमारे समय के हिंदी कथालेखन के अलग-अलग मिज़ाज एवं रचनात्मक वैशिष्ट्य का परिचय देते हैं।

'मुन्ना बैंड वाले उस्ताद' संकलन की कहानियों में हमारे अपने समय के वृहत्तर यथार्थ का ऐसा रूप उभरता है जिसमें समूचे जनजीवन की धड़कने साफ तौर से सुनी जा सकती हैं। अर्थात् इन कहानियों का फलक अत्यन्त व्यापक और वैविध्यपूर्ण है जो हमारे आज के जीवन की विभिन्न स्थितियों, विडम्बनाओं, संघर्षों एवं त्रासद रूपों का ईमानदारी से उद्घाटन करता है।

संकलन की पहली कहानी 'आलोक' है जो रचनाकार के राजनैतिक बोध और गहरे

Untitled-1 157 7/23/2010, 1:32 PM

जनसरोकार का परिचय देती है। शिवदयाल ने इसमें बिहार में नक्सलवादी आंदोलन के उभार तथा जमींदारों के दमन एवं अत्याचार को मूल विषय बनाया है। कहानी में नक्सलवादी आंदोलन के हिंसक रूप की सफलता से यह सवाल जरूर खड़ा होता है कि क्या तमाम तर्कों और औचित्य के बावजूद प्रजातान्त्रिक प्रणाली में संघर्ष एवं प्रतिरोध के हिंसक रूप का समर्थन किया जा सकता है। इसी तरह स्वातन्त्र्योत्तर भारतीय राजनीति में आने वाले अधःपतन, सत्ता एवं अपराध के विडम्बनापूर्ण और अमानवीय गठजोड़ का निर्मम किन्तु वास्तविक चित्रण 'समझौता' कहानी में मिलता है। यहाँ पर कहानीकार ने सामाजिक परिवर्तन का नारा लगाकर सत्ता में आने वाली ताकतों को बड़ी कुशलता के साथ बेनकाब किया है। ये ताकतें जाति तोड़ों का नारा अवश्य देती हैं लेकिन दो विपरीत जाति के प्रेमी युगलों के प्रेम सम्बन्धों को बर्दाश्त नहीं कर पातीं, चाहे इसके लिए उन्हें कितना भी क्रूर एवं अमानवीय बनना पड़े। डॉ. जुगल किशोर एवं स्नेहलता की प्रेम कहानी इसका उदाहरण है। इसमें पुष्पेन्द्र जुगल किशोर से कहता है—''तुम उसे समझाओ जुगल, उसका बाप ऐसा कभी नहीं होने देगा। किसी भी कीमत पर नहीं। दे आर ब्लडी किलर्स, नथिंग एल्स। अपने ईगो और पोलिटिकल इंटरेस्ट के लिए वे किसी भी हद तक जा सकते हैं।''

इस संकलन की और भी कई कहानियों में मानवीय प्रेम सम्बन्धों का अत्यन्त संवेदनशील रूप मिलता है। यहाँ कहानीकार ने प्रेम के रागात्मक सम्बन्धों को भी अपने परिवेश की भयावहता तथा त्रासद स्थितियों के बीच रखकर ही देखा है। इस दृष्टि से 'तुम वह मत होना', 'मुन्ना बैंड वाले उस्ताद', 'एक सलोनी सी लड़की' जैसी कहानियाँ पर्याप्त महत्तवपूर्ण हैं। 'वह तुम मत होना' कहानी पाठक को गंभीर मनःस्थिति में ले जाती है और यह आशय छोड़ती है कि व्यक्ति की भूमिका बदलने के साथ ही एक ही स्थिति के प्रति उसका नजरिया अक्सर बदल जाता है। कथानायक बदली हुई भूमिका में एक पिता की हैसियत से अपनी बेटी के प्रेम को स्वीकार करने में उलझन एवं कठिनाई महसूस करता है। कहानी की ताकत इस बात में है कि कथानायक अन्ततः अपने पूर्वानुभवों के आलोक में सही समाधान पा जाता है और बेटी के प्रेम को स्वीकृति दे देता है।

कहानीकार ने इस संकलन की कई कहानियों में सामाजिक-आर्थिक जीवन की विसंगतियों, तनावों एवं संघर्षों को भी पर्याप्त कुशलता एवं ईमानदारी से उभारा है और इनके बीच जीवन के रागात्मक पक्षों का स्पर्श भी किया है। इस लिहाज से 'मुन्ना बैंड वाले उस्ताद', 'दान', 'एक सलोनी सी लड़की' कहानियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं। 'मुन्ना बैंड वाले उस्ताद' में कहानीकार ने अज़ीज मियाँ जैसे अविवाहित चरित्र को आधार बनाकर निम्नमध्यवर्गीय भारतीय जनजीवन, विशेषतः मुस्लिम परिवारों के आर्थिक अभावों, सामाजिक बिखराव एवं अकेलेपन की पीड़ा को मूर्त किया है 'दान' कहानी में भी एक निम्नमध्यमवर्गीय परिवार को केन्द्र में रखकर आर्थिक तंगी, अन्तर्द्वन्द्व एवं विवशता को उभारा गया है। एक ओर आरती को दान जैसे सत्कर्म की प्रबल इच्छा वृद्ध भिखारी को नया कम्बल देने के लिए प्रेरित करती है और दूसरी ओर घर की आर्थिक तंगी एवं अभाव उसे रोकते हैं। दोनों स्थितियों के बीच इस द्वन्द्व एवं खींचतान में अन्ततः घर की आर्थिक तंगी भारी पड़ती है और आरती पुराना कम्बल देकर सन्तोष अनुभव

Untitled-1 158 7/23/2010, 1:32 PM

करती है—''बूढ़े के लिए यह (पुराना) बहुत अच्छा रहेगा। भिखमंगों में छीना-झपटी बहुत होती है। नए कम्बल पर किसकी नज़र खराब हो जाय, कौन जानता है। पुराना है तो उसके पास तो रहेगा, जाने का डर नहीं।''

'एक सलोनी सी लड़की' एक लम्बी और महत्त्वपूर्ण कहानी है। जिसमें शिवदयाल ने अत्यन्त सधे हाथों से प्रेम के कोमल एवं गहरे अनुभवों के साथ निम्नमध्यमवर्गीय परिवार की एक सामान्य लड़की प्रभा की संघर्षमय किन्तु त्रासद गाथा प्रस्तुत किया है। यह कहानी आज के नारी विमर्श में भी खास अहमियत रखती है। यहाँ नारी का दुहरा संघर्ष है। एक संघर्ष व्यक्ति होने का और दूसरा स्त्री होने का —''स्त्री जब संघर्ष करती है तो उसके साथ स्त्री होने का संघर्ष भी अनिवार्य तौर पर जुड़ जाता है, वह उसके व्यक्ति होने के संघर्ष से इतर होता है।'' कहानीकार ने स्त्री के इस दुहरे संघर्ष को अत्यन्त बारीकी एवं कुशलता के साथ आकार दिया है।

शिवदयाल अपने परिवेश के प्रति अत्यन्त सजग कहानीकार हैं। उन्होंने अनुभव किया है कि आज पूँजीवादी एवं बाजारवादी ताकतों ने मनुष्य की भूख को इस कदर बढ़ा दिया है कि वह धन और ऐश्वर्य की लालसा में बड़ा-से-बड़ा अपराध करने से नहीं हिचकता। इस दृष्टि से इस लेखन की 'समझौता' एवं 'खटराग' के अलावा 'नास्टैल्जिया' एवं 'चन्दन खुशबू की दूकान' कहानियाँ विशेष महत्त्व रखती हैं। 'नास्टैल्जिया' में शिवदयाल ने भारतीय एवं एशियाई लोगों विशेषतः नवयुवकों में अमेरिका के प्रति गहरी आसक्ति, वहाँ जाकर किसी भी कीमत पर पैसा कमाने अर्थात् अपने को उच्चतम मूल्य पर बेचने की महत्त्वाकांक्षा का चित्रण किया है। इसके लिए उन्हें चाहे जितनी जहालत, अपमान एंव प्रताड़ना सहना पड़े। कहानी में आभास बसु एक ऐसा नास्टैल्जिया करेक्टर है जिसे एक ओर अपने देश, अपनी जमीन और अपने लोगों से गहरा लगाव है और दूसरी ओर पहले अपनी इच्छा से और बाद में माँ-बाप की इच्छा के कारण धन कमाने, सुख सुविधाएँ बटोरने के लिए अमेरिका में रहने को अभिशप्त है। कहानीकार ने इन दो विरोधी स्थितियों के भीतर से उपजने वाली विडम्बना, तनाव एवं छटपटाहट को अत्यन्त कुशलता से मूर्त किया है। इसी तरह 'चन्दन खुशबू की दूकान' भूमण्डलीकरण एवं नई आर्थिक संरचना में अपनी अस्मिता के लिए संघर्ष करते चन्दन और खुशबू की कहानी है। यहाँ इस नए अर्थतन्त्र की चमक में चौंधियाए कमलेश जैसे चरित्र भी हैं। जिनके सपने एक-एक कर टूटते एवं बिखरते जाते हैं।

जहाँ तक इस संकलन की कहानियों के भाषाई रचाव एवं संरचनात्मक रूप का सवाल है तो ये कहानियाँ शिवदयाल के एक अनुभव सम्पन्न, समर्थ एवं जनचेतना से गहरा सरोकार रखने वाले कहानीकार का व्यक्तित्व निर्मित करती हैं। ज्यादातर कहानियों में एक सर्जनशील भाषा का परिचय मिलता है जिसमें सहजता, बोधगम्यता एवं गतिशीलता जैसे तत्व मौजूद हैं। अपनी इन विशेषताओं के कारण कहानियाँ बोझिल होने से बच गयी हैं और पाठक तक अपना मन्तव्य पहुँचाने में सफल होती हैं।

संरचनात्मक स्तर पर इन कहानियों के कई बिन्दु आकर्षित करते हैं। यद्यपि कुछ स्थानों पर कथावस्तु में अनावश्यक विस्तार एवं शिथिलता जैसे तत्त्व मिलते हैं लेकिन अधिकतर

Untitled-1 159 7/23/2010, 1:32 PM

कहानीकार कथावस्तु की कसावट के द्वारा सही प्रभाव उत्पन्न करने में सफल हुआ है। किस्सागोई का तत्त्व एवं कहानी कहने का अनूठा ढंग भी इन कहानियों को विशिष्ट बनाता है। इस दृष्टि से इस संकलन की 'आलोक', 'खटराग' जैसी कहानियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। इन कहानियों में कहानीकार अपने मन्तव्य को इतने रचनात्मक एवं प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करता है कि ये कहानियाँ हमारे आस-पास के जीवित सच का अनुभव कराती हैं और इन कहानियों के माध्यम से हम अपने समय की चुनौतियों एवं प्रश्नों से जुझ रहे होते हैं। इसीलिए 'वह तुम मत होना', 'समझौता', 'मुन्ना बैंड वाले उस्ताद', 'एक सलोनी सी लड़की', 'नास्टैल्जिया' जैसी कहानियों का अन्त पाठक को सोचने के लिए मजबूर करता है। कहानीकार ने शैली एवं टेकनीक के स्तर पर भी इन कहानियों में महत्त्वपूर्ण प्रयोग किया है। वर्तमान में खड़े होकर अतीत की कथा कहने की टेकनीक 'आलोक' कहानी में मिलती है। इसी तरह 'दान', 'एक सलोनी सी लड़की' एवं 'चन्दन खुशबू की दूकान' कहानियों में अंश विभाजन के लिए दो पंक्तियों के बीच प्राप्त होने वाले सामान्य अन्तराल से अधिक अन्तराल रखने की टेकनीक अपनाया है।

'अलग-अलग दीवारें' सुमति सक्सेना लाल का पहला कहानी संकलन है। इस संकलन की कहानियों में आधुनिक शहरी जीवन शैली से उपजी स्थितियों एवं निष्कर्षों का विवेचन मिलता है। कहानीकार अपने समय में विचारों, विश्वासों एवं अवधारणाओं में आने वाले परिवर्तनों को चरित्रों के सहारे पर्याप्त सूक्ष्मता एवं कुशलता से रेखांकित करती हैं। वास्तव में इन कहानियों के सूत्र उस समाज में बिखरे हैं जो शिक्षित है और नये जीवन पथ की तलाश कर रहा है। विषय की दृष्टि से इस संकलन की प्रायः सभी कहानियाँ स्त्री चेतना में आने वाले उभार और उसके विभिन्न आयामों को ही केन्द्र में रखकर लिखी गयी हैं।

संकलन की पहली कहानी 'दूसरी बार न्याय' है, जिसमें लेखिका की मूल चिन्ता है कि पुरुषवादी व्यवस्था एवं विधि-विधान में अन्ततः स्त्री को ही सवालों के घेरे में खड़ा किया जाता है, उसे ही तिरस्कार एवं अपमान झेलना पड़ता है और उसी से त्याग एवं बलिदान की उम्मीद भी की जाती है, चाहे वह गार्गी के रूप में हो या छोटी के रूप में हो। कहानी की ताकत स्त्री के त्याग एवं साहस के आख्यान में है। इसी कारण छोटी को पहली बार न्याय तब मिलता है जब गार्गी अपने ही पति के विरुद्ध उसे आश्रय देती है और दूसरी बार न्याय तब मिलता है जब कथावाचक उसे घर के अन्यायपूर्ण एवं घुटन भरे वातावरण से निकालने का संकल्प लेती है, क्योंकि उसका विश्वास है कि—''भाग्य की दी हुई सजा से बाहर निकलने का रास्ता इन्सान को स्वयं निकालना पड़ता है।''

आधुनिक जीवन शैली हमारे संवेदनात्मक रिश्तों को किस तरह प्रभावित एवं क्षरित कर रही है, इसका परिचय 'कौशल्या दी' कहानी में मिलता है। यहाँ पर स्वाभिमानी एवं खुले हृदय की महिला कौशल्या दी के जीवन की विडम्बना मूर्त हुई है। कथावाचक को कौशल्या दी के प्रति आत्मीय सम्बन्धों का एहसास एक तरफ तथा परिस्थितिवश उसे निभा न सकने की विवशता दूसरी तरफ खींचती है। इन दोनों स्थितियों के बीच जो तनाव एवं विडम्बना उपजती है, वह इस कहानी को महत्त्वपूर्ण बनाती है। यह सच हर ऐसे संवेदनशील व्यक्ति का सच है

Untitled-1 160 7/23/2010, 1:32 PM

जो आत्मीय रिश्तों की गरमाहट महसूस करता है। 'सलीब अपने-अपने' कहानी में कहानीकार ने पुरुष प्रधान समाज में स्त्री की नियति, वेदना एवं असहायता को यित्रित किया है। 'कवच' कहानी में भी स्त्री चेतना के विभिन्न सन्दर्भ हैं। विधवा मानी के स्वाभिमान की रक्षा अंजलि के द्वारा कराना इस कहानी का केन्द्रीय तथ्य है और मानी द्वारा सेवा के बदले में आशीर्वाद के बिना कुछ न देना अंजलि के स्वाभिमान की कवच बनकर रक्षा करता है।

स्त्री मनोविज्ञान की समझ की दृष्टि से इस संकलन की 'दंश' कहानी उल्लेखनीय है। इसमें गौरव के प्रति आन्तरिक स्वीकार और बाहरी नकार के द्वन्द्व में झूलती अपर्णा के अभिमान, वेदना और प्रेम की गहरी अनुभूति का चित्रण है। कहानी का अन्त अपर्णा के अपने अभिमान पर विजय और प्रेम को व्यक्त कर देने के संकल्प की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जिससे वह आजीवन अपने प्रेम की अभिव्यक्ति न कर पाने के दंश से मुक्त हो जाती है। 'द्रष्टा' कहानी का विषय अन्य कहानियों से थोड़ा हटकर है, लेकिन इसमें भी स्त्री चरित्रों की ही प्रधानता है। वास्तव में इस कहानी में कहानीकार ने भारतीय उच्च शिक्षा में आने वाली गिरावट को आधार बनाकर दो पीढ़ियों के बीच के अन्तराल को अत्यन्त बारीकी से उभारा है। पूर्व प्रिंसिपल मिस सिन्हा उस पुरानी पीढ़ी की प्रतिनिधि हैं जो मूलतः कर्मनिष्ठा, ईमानदारी एवं सेवाभावना को अपने जीवन में महत्त्व देती है। इसीलिए वे अपनी तमाम पीड़ा एवं संवेदनशीलता के बावजूद जीवन में आने वाली समस्त पतन और अवमूल्यन की केवल द्रष्टा रह जाने को विवश है—''किस अमानत की बात कर रही थीं मिसेज धर? ईंट गारे से बनी यह इमारत?...उन्होंने तो अपनेपन की गन्ध से महकती हुई स्पन्दनयुक्त संस्था छोड़ी थी...मिसेज धर ने तो इमारतों में बदल दिया।''

'दण्ड-मुक्ति' कहानी स्त्री के शोषण, अपमान और यन्त्रणा की कहानी है। यहाँ कहानी का एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष है कि नारी की अस्मिता, उसकी स्वतन्त्रता एवं महत्त्व को एक पुरुष समझ ही नहीं सकता, चाहे वह पिता हो, पति हो, प्रेमी हो या अन्य सम्बन्धी हो—''पुरुष को सिर्फ एक स्त्री चाहिए होती है..। नहीं, स्त्री नहीं स्त्री शरीर की चाहना होती है उसके मन में...। कोई खास फर्क नहीं है...सब पुरुष एक से ही होते हैं।'' 'विस्थापन' कहानी में लेखिका का मुख्य ध्यान निम्नमध्यमवर्गीय परिवार की प्रतिभाशाली तथा महत्त्वाकांक्षी दीपा पर है जो अपनी कुण्ठा एवं हीनताबोध के कारण शेष परिवार से अपने को काट लेती है। यही उसका विस्थापन है। इस संकलन की अन्तिम कहानी 'अलग-अलग दीवारें' में छवि के माध्यम से स्त्री मन के भीतर झाँकने की कोशिश है। छवि का एक अतीत और एक वर्तमान है। वर्तमान पति, बेटी, वैभव एवं स्टेटस के कारण बेहद सुखद एवं सन्तोषप्रद है, लेकिन अतीत में असफल प्रेम की टीस इन सब पर भारी पड़ती है। वास्तव में छवि के व्यक्तित्त्व का एक अंश अतीत की प्राचीर में बन्द है और दूसरा वर्तमान की प्राचीर में। यह स्थिति दुविधा, तनाव एवं अन्तर्द्वन्द्व को जन्म देती है।

यहाँ पर भी उल्लेख जरूरी है कि यद्यपि 'अलग-अलग दीवारें' संकलन सुमति सक्सेना लाल का पहला कहानी संकलन है, लेकिन इसकी कहानियों में प्राप्त अनुभव की गहराई, अपने समय के यथार्थ की समझ और अभिव्यक्त करने की क्षमता इस स्थिति का प्रतिवाद

Untitled-1 161 7/23/2010, 1:32 PM

करती-सी लगती है। आमतौर से पहले संकलन में जिस तरह का कच्चापन एवं शिथिलता मिलती है उससे इस संकलन की कहानियाँ काफी कुछ मुक्त हैं। इतना जरूर है कि पूरे संकलन में कुछ सीमाएं उभरकर आती हैं और साथ ही हर जगह कोशिश के निष्कर्षों से सहमत हो पाना भी संभव नहीं लगता। उदाहरण के लिए 'दण्ड-मुक्ति' कहानी में समस्त पुरुष समुदाय को स्त्री विरोधी बताकर समस्या का सरलीकरण कर दिया गया है। 'विस्थापित' कहानी में भी प्रतिभा, अवसर एवं श्रेष्ठता को उच्चवर्गीय अफसरों में ही लेखिका देखती हैं। इसी तरह कहीं-कहीं वर्णनों में अस्वाभाविकता भी मिलती है। 'दण्ड-मुक्ति' में प्रदीप का दिव्या के ठण्डेपन एवं उदासीनता के कारण लिया गया निर्णय इसका उदाहरण है।

सुमति सक्सेना लाल के इस संकलन की कहानियों के सम्बन्धों में निचोड़ रूप में यही कहना उचित लगता है कि यद्यपि इन कहानियों में आज के जीवन के वैविध्य एवं विस्तार का परिचय नहीं मिलता, मुख्यतः स्त्री जीवन को केन्द्र में रखकर ये कहानियाँ चलती हैं। एक ही विषय को तमाम कोणों से आलोकित किया गया है जिससे स्त्री जीवन के तमाम सन्दर्भों को गहराई से देखा जा सका है। कहानीकार स्वयं स्त्री होने के कारण आज की बदली हुई परिस्थिति में स्त्री के सामने उपस्थित चुनौतियों, संघर्षों, त्रासद स्थितियों और साथ ही उसके चिंतन में आए बुनियादी बदलाओं को रेखांकित करते हुए हिंदी में स्त्री विमर्श की परम्परा को मजबूती से आगे बढ़ाया है। वास्तव में इस संकलन की कहानियाँ स्त्रीमन के भीतर झाँकने का आइना कही जा सकती हैं और आगे एक बड़े कहानीकार की संभावनाएं भी जगाती हैं।

समीक्ष्य कृति—

(1) मुन्ना बैंड वाले उस्ताद—शिवदयाल,
भारतीय ज्ञानपीठ,संस्करण 2009, मू. 150/-
(2) अलग-अलग दीवारें—सुमति सक्सेना लाल,
भारतीय ज्ञानपीठ, संस्करण 2009, मू. 100/-

Untitled-1 162 7/23/2010, 1:32 PM

लेखकों के पते

रघुवंशमणि 365 इस्माइलगंज, अमानीगंज, फ़ैजाबाद (उ.प्र.)
पुष्पपाल सिंह 63 केसर बाग़ (निकट एन.आई.एस.),पटियाला-147001
सुबोध शुक्ला 4-एफ़ नवाब यूसुफ़ रोड, सिविल लाइंस, इलाहाबाद-211001(उ.प्र.)
संतोष कुमार चतुर्वेदी 3/1 बी. के. बनर्जी मार्ग, नया कटरा, इलाहाबाद-211002(उ.प्र.)
शैलेंद्र 2 किशोर पल्ली, देशप्रिय नगर, बेलघरिया, कोलकाता-56
प्रियदर्शन मालवीय 98 आवास विकास कॉलोनी, सिविल लाइंस, बरेली (उ.प्र.)
अरुण देव हिंदी विभाग, साहू जैन पी.जी,कॉलेज, नजीबाबाद, बिजनौर-246763 (उ.प्र.)
डॉ. विजयराघव रेड्डी विजयविलासम, 3-13-1/10,श्रीनिवासपुरम, रामांतपूर, हैदराबाद-13
यश मालवीय (पुत्र स्व. श्री उमाकांत मालवीय), ए-3 मेहंदौरी कॉलोनी, इलाहाबाद-211004
धनंजय चोपड़ा 515 विनायक इंक्लेव, अशोक नगर, इलाहाबाद (उ.प्र.)
सियाराम शर्मा 7/35 इस्पात नगर, रिसाली, भिलाई नगर, दुर्ग-490006 (छत्तीसगढ़)
प्रेम शशांक किसान सहकारी चीनी मिल्स लि., सेमीखेड़ा, बरेली-243203 (उ.प्र.)
गोरख नाथ 50 राजेश्वरीनगर कॉलोनी, गिलट बाज़ार, वाराणसी

Untitled-1 163 7/23/2010, 1:32 PM